॥ श्रीहरिः ॥ 387

प्रेम-सत्संग-सुधा-माला

गीताप्रेस, गोरखपुर

प्रकाशकका निवेदन

किन्हीं एकने किन्हीं एकको प्रश्नोंके उत्तरमें बहुत दिनों पहले कुछ बातें बतायी थीं। वे बातें कहीं लिखी रखी थीं। किसीके हाथ अकस्मात् लगीं और वे 'कल्याण'में 'सत्संग-सुधा' शीर्षकसे मार्च १९५७ से दिसम्बर १९५७ तक प्रकाशित हो गयीं। इन 'बातों'को पढ़कर बहुत लोगोंने उन्हें पुस्तकाकाररूपमें प्रकाशित करनेका अनुरोध-आग्रह किया; परंतु प्रकाशनमें देर होती रही। इस बार भगवत्कृपासे अवसर आ गया और 'सत्संग-सुधा' नामके बदले 'प्रेम-सत्संग-सुधा-माला'के नाम-से मालाकी १०८ मणियोंकी तरह वे 'बातें' १०८ रूपमें प्रकाशित हो रही हैं। नाम इसलिये बदला गया कि 'सत्संग-सुधा' नामक एक पुस्तिका पहले प्रकाशित हो चुकी है, वही नाम रहनेसे लोगोंको भ्रम होनेकी सम्भावना है।

जिनको पसन्द हो, वे इन 'बातों'को पढ़ें और रुचि हो तो लाभ उठावें।

विनीत—

प्रकाशक

॥श्रीहरिः॥

प्रेम-सत्सङ्ग-सुधा-माला

१—आपका मन जहाँ है, वहीं आप हैं—इस बातको गाँठ बाँधकर याद कर लें। यहाँ बैठे हुए आप यदि कलकत्तेकी दूकानका चिन्तन करते हैं तो आप असलमें कलकत्तेमें ही हैं। इसी प्रकार यदि शरीर यहाँ है, पर मन शरीरको छोड़कर दिव्य वृन्दावन-धामकी लीलामें है तो आप वृन्दावनधाममें ही हैं। प्रारब्ध पूरा होनेपर शरीर गिर जायगा और आप सदाके लिये उसी लीलामें सम्मिलित हो जायँगे। सब कुछ आपकी इच्छापर निर्भर है। इस अटूट सिद्धान्तको मानकर साधनामें लगे रहनेसे ही उन्नति हो सकती है।

२—आपके मनकी दशाका तो मुझे ज्ञान है नहीं कि उसमें क्या है। पर मेरा तो यह विश्वास है कि जिस दिन आप यथार्थमें चाहने लगियेगा कि मेरा मन व्रजलीलामें फँस जाय, उसी दिन, उसी क्षण अपने-आप आपको मनके रोकनेकी नयी-नयी युक्तियाँ सूझने लगेंगी कि ऐसे रोकें, ऐसे फँसायें, ऐसे करें। नहीं होता है, इसमें प्रधान कारण चाहमें कमी ही है। मुझे अनुमान होता है कि वह व्याकुलता ही मनमें शायद नहीं है। कभी-कभी सोडावाटरके उफानकी तरह चित्त चाहता है, फिर ठंढा पड़ जाता है।

३—यहाँ घड़ी दीख रही है, पर यह बिलकुल सत्य बात है कि इसी घड़ीकी जगह श्रीकृष्ण हैं। अब जबतक आप घड़ी देखना बंद नहीं करेंगे, तबतक श्रीकृष्ण कैसे दीख सकते हैं। क्योंकि मन तो एक

श्रीकृष्णको देखनेपर घड़ी नहीं दीखेगी और घड़ीको देखनेपर श्रीकृष्ण नहीं दीखेंगे। वैसे ही मनसे या तो जगत्‌का चिन्तन होगा या श्रीकृष्णका। जहाँ जिस किसी भी पदार्थका चिन्तन आपका मन करता है, वह पदार्थ उनकी ही मायाकी रचना है, उनकी एक लीला है। जबतक आप इस लीलाको छोड़कर उनकी उस दिव्य चिन्मयी लीलामें मन नहीं ले जायँगे, तबतक कोई दूसरा क्या करेगा। आप कहें कि हमसे ऐसा होता नहीं—इसका साफ उत्तर है कि आपका मन अभी यह चाहता नहीं कि इस लीलाको छोड़कर उस परम दिव्य लीलामें जाय।

४—आरम्भमें कठिनाई होती है, पर ऐसी-ऐसी युक्तियाँ हैं कि जिनके करनेसे मन वशमें होगा ही। जबतक मन उसमें लीन नहीं होगा, तबतक केवल पढ़कर वह आनन्द आप ले ही नहीं सकते। आप करना चाहें तो मैं एक युक्ति बतलाता हूँ, पर वह होगी करनेसे ही। मान लें आप 'हरे राम' जपते हैं। इसको जपते रहें, पर प्रत्येक मन्त्रके उच्चारणके साथ एक बार आप यह ध्यान कीजिये कि श्रीप्रिया-प्रियतम एक वृक्षके नीचे खड़े हैं। संध्याके समय कहीं चले गये। टीबेपर बैठकर देखिये—एक सड़क है, अत्यन्त सुन्दर सड़क है और उसपर वृक्ष-ही-वृक्ष लगे हैं। अब प्रत्येक वृक्षके नीचे आप एक बार श्रीकृष्णको एवं श्रीराधारानीको देखिये तथा मालाके मनके फेरते चले जाइये। इस प्रकार तीन माला अर्थात् वृक्षके नीचे ३०० बार श्रीप्रिया-प्रियतमका दिव्य चिन्तन कीजिये, इस दृढ़ निश्चयके साथ कि यह करना ही है। यह अभ्यास यदि बढ़ गया और कहीं १६ माला 'हरे राम' के षोडश नामकी हो गयी तो आगे मनको टिकानेमें बड़ी सुविधा होगी। पहले तीन मालासे आरम्भ करें।

वास्तवमें यदि आप चाहते हैं तो आपको यह करना ही पड़ेगा।

धीरे-धीरे मनकी बदमाशी मिटानी ही पड़ेगी। आप देखें, मन तो जैसे आज बदमाशी कर रहा है, मरते समय और भी अधिक बदमाशी कर सकता है तथा पता नहीं कब किस संगमें फँसकर मनपर कैसा रंग चढ़ जाय। अतः उसके पहले ही मनकी बदमाशीको पूरी तरह मिटा दें। उसके लिये यह बड़ी सुन्दर युक्ति है। एक युक्ति और भी है। पर पहले आप इसे करें, फिर आगेकी युक्ति कभी पीछे बतायी जा सकती है। वह युक्ति संक्षेपमें यह है कि जैसे मालाका जो नियम चल रहा है, वह चले; पर खूब कड़ाईसे यह नियम बना लें कि 'लगातार तीन-चार घंटे बैठकर व्रज-सम्बन्धी ५००० चीजोंको याद करूँगा। एक-दो सेकण्डके लिये उन पाँच हजार चीजोंको याद कर ही लूँगा, चाहे मन कितनी ही बदमाशी करे। इसके लिये एक किताब बनाकर अपने पास रख लेनी चाहिये तथा १-२-३ ऐसे नम्बर लगाकर, जैसे पाठ किया जाता है वैसे एक-एक चीजको पढ़ते जाना चाहिये और उसका एक-एक सेकण्डके लिये ही चित्र बाँधते जाना चाहिये तथा जीभसे नाम चलते रहना चाहिये। होता यह है कि मन भागने लगता है, पर नियमके कारण जहाँ साल-छः महीने प्रतिदिन दृढ़तासे ऐसा हुआ कि अभ्यासवश मनको ठीक उसी समय प्रतिदिन वहाँ आना पड़ेगा। पर बिना नागा इस नियमको निबाहनेसे ही सफलता मिलती है। हाजिरी, मुलाहिजा, शिष्टाचारके फेरमें पड़नेपर तो कोई नियम नहीं सधता। पहले आप यह तीन मालावाला नियम आजसे या कलसे शुरू करें और इसको खूब कड़ाईसे चलायें।

देखें—विषयोंमें सुख नहीं है, पर तो भी सुखकी भ्रान्ति होती है। इसका रहस्य मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि यह भ्रान्ति क्यों होती है। मान लें, खूब जोरसे भूख लगी है; अब खानेके समय बड़ा आनन्द

मिलता है। पर असलमें यह जो आनन्द मिलता है, वह खानेकी वस्तुसे नहीं आता, वह आता है उन भगवान्‌से, जो हृदयमें बैठे हैं। होता यह है कि मनमें इच्छा हुई, उत्कट इच्छा हुई कि कुछ खाऊँ। इसी इच्छाकी पूर्ति जब होती है, तब उतनी देरके लिये मनकी चञ्चलता मिट जाती है और वह स्थिर हो जाता है। स्थिर मनपर आत्माका सुख प्रतिबिम्बित होने लगता है और मनुष्यको आनन्दका अनुभव होता है। असलमें तो मनके टिकनेसे आत्माके आनन्दकी छाया मनपर पड़ी है, इसीलिये आनन्दका अनुभव हुआ है।

इसी प्रकार सभी विषयोंकी बात है। इच्छा हुई और जब वह इच्छा पूर्ण होने लगती है, तब उतनी देरके लिये मन स्थिर हो जाता है। मन स्थिर होते ही आत्माकी छाया उसपर पड़ने लग जाती है और मनुष्य मूर्खतासे मान बैठता है कि अमुक विषयसे मुझे सुख मिला है। अवश्य ही उस बातपर आसानीसे विश्वास होना बड़ा कठिन है, पर सत्य बात तो यही है।

इसीलिये मनको ठीक स्थिर करनेकी आवश्यकता है। यही मन जब भगवान्‌में स्थिर हो जाता है, तब तो ऐसा विलक्षण नित्य सुख मिलता है कि फिर वह कभी मिटता नहीं। वह आनन्द नित्य है और उसे प्राप्त करके जीव निहाल हो जाता है, इसलिये इसको आप अवश्य करें। लीलामें मन लगानेमें कोई परिश्रम नहीं है; पर हमसे नहीं होता, इसका कोई उत्तर मेरे पास नहीं है।

५—अनादिकालसे विषयोंके संस्कार मनमें हैं और विषयोंकी इच्छा होती है। प्रत्येक विषयकी कामनाके साथ ही मन उसकी पूर्तिके लिये व्याकुल होता है। पूर्ति हुई; व्याकुलता मिटी, पर यह मिटेगी थोड़ी देरके लिये ही, क्योंकि उतनी देरतक आत्माकी छाया मनपर पड़ी थी।

जैसे हिलते हुए दर्पणमें मुख नहीं दीखता, स्थिर होनेपर दीखने लग जाता है, वैसे ही चञ्चल मनमें आत्माका सुख प्रतिबिम्बित नहीं होता। जब मन-दर्पण थोड़ी देरके लिये शान्त होता है, तब उसका हिलना बंद होकर आत्माका प्रतिबिम्ब उसपर पड़ता है। फिर कुछ क्षणके बाद दर्पण हिलने लगता है। इसी तरह विषयकी पूर्ति, सुख, फिर विषयकी कामना और व्याकुलता। यह चक्कर चलता रहता है। असलमें यह सुख भी छाया है, असली नहीं। असली सुख तो उस वस्तुमें है, जिसकी छाया पड़ती है। वह परम वस्तु है भगवान्।

६—लीला-वस्तुओंके पाठका नियम लेकर साधना करनी पड़ती है। एक वाक्य पढ़ा और फिर उस चीजका एक सेकण्ड मनमें चित्र बाँधकर देख लिया। फिर दूसरा वाक्य पढ़ा, उस वस्तुका चित्र बाँधकर देख लिया। तीसरा वाक्य पढ़ा, उस वस्तुका चित्र बाँधकर देख लिया। यह पाठ जिस दिन पाँच हजार वस्तुओंका लगातार पूरा हुआ कि लगातार ६ घंटे लीलाका ध्यान हो जायगा। जैसे—

(१) राधाकुण्डका जल चमचमा रहा है।
(२) कुण्डपर कमलके फूल हैं।
(३) कमलके हरे-हरे चौड़े पत्ते हैं।
(४) नीले-लाल-उजले—तीन तरहके कमल हैं।
(५) कमलके फूलपर काले-काले भौंरे मँडरा रहे हैं।
(६) पवनके कारण कमलकी डंडी हिल रही है।
(७) कमलके फूलके पास एक हंस बैठा है।
(८) हंस उजले रंगका है।
(९) हंस बोल रहा है।
(१०) राधाकुण्ड बहुत लम्बा-चौड़ा है।

(११) पूर्वकी ओर करीब एक फर्लांग लम्बा है।

इस प्रकार प्रतिदिन नियमसे करना चाहिये, आनन्द आये या न आये। मनकी बदमाशीसे कभी-कभी जी ऊबेगा, पर तुले रहनेपर मन फिर लग जायगा।

और भी युक्तियाँ हैं—जैसे भागवतका पाठ करना हो। अब प्रत्येक श्लोकपर जब एक बार प्रिया-प्रियतमकी छबिका चित्र बँध जायगा, तब दूसरा श्लोक पढ़ेंगे। इस प्रकार यदि बारह अध्याय पाठका नियम हो तो तीन घंटे ध्यान हो जायगा। अठारह अध्याय गीता-पाठका नियम हो तो तीन घंटे बीत जायँगे। पर होगा लगनसे करनेपर ही।

७—लगनके लिये, तत्परताके लिये एक युक्ति है। वह यह है कि नींद खुलते ही हृदयसे श्रीप्रिया-प्रियतमसे निवेदन करें कि अब जीवन तुम्हारे हाथमें है और फिर एक काम करें—एक रूमाल बराबर पास रखें, उसमें गाँठ बाँध दें। गाँठ देते समय यह पद गाते रहें—

> नंदलाल सौं मेरो मन मान्यौ, कहा करैगो कोय री।
> हौं तो चरन-कमल लपटानी, होनी होय सो होय री॥
> गृहपति मात-पिता मोहि त्रासत, हँसत बटाऊ लोग री।
> अब तो जिय ऐसी बनि आई, बिधना रच्यो है संजोग री॥
> जो मेरौ यह लोक जायगौ, अरु परलोक नसाय री।
> नंदनँदन कौं तऊ न छाड़ौं, मिलूँगी निसान बजाय री॥
> यह तनु फिर बहुरौ नहिं पैये बल्लभ बेष मुरार री।
> परमानँद स्वामी के ऊपर सरबस डारौं बार री॥

—यह पढ़कर गाँठ बाँध लें और जहाँ जायँ, जहाँ बैठें, रूमालको सामने रखे रहें तथा बार-बार मन-ही-मन निश्चय दृढ़ करते

रहे हमें यही करना है। चाहे सारा संसार जल जाय, नष्ट हो जाय; पर हमें यह एक ही काम करना है। दिनभर वह गाँठ सामने रखें; प्रातःकाल फिर उठकर उसे खोलें, खोलकर फिर पद गाते हुए बाँध दें। इससे बड़ी सहायता मिलती है। किसीको पता भी नहीं चलता कि गाँठ किसलिये है। रूमाल है, किसी कामके लिये गाँठ दी हुई होगी अथवा कोई चीज बाँधी हुई होगी—लोग यही समझेंगे। पर वह सामने हाथमें सदा पड़ा रहे। जहाँ गये, हाथमें लेकर बैठे रहे। इससे प्रियतमके साथ आप घुलमिल जायँगे।

जब मैं था, तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहि।
प्रेम गली अति साँकरी ता में द्वौ न समाहि॥
प्रेम न बाड़ी नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै सीस देय लै जाय॥

× × × ×

कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फूँकौ आपना तो चलौ हमारे साथ॥
प्रेम-पंथ अति ही बिकट, देखत भाजै लोग।
कोउक बिरले चलि सकैं, जिन त्यागे सब भोग॥

बिलकुल संसारकी दृष्टिमें निकम्मा हो जाना पड़ता है, तब रास्ता तय होता है। फिर तो एक-से-एक युक्ति सूझने लगेगी। सोचिये, एक दिन तो सब छूटेगा ही, फिर इससे बड़ी मूर्खता क्या होगी कि हम ऐसी नश्वर पदार्थोंके पीछे अनमोल जीवन व्यर्थ खो दें। पर खोते ही हैं। विषय अनादिकालसे मनमें धँसे हुए हैं और मन एक बार भी भगवान्में नहीं फँसा। नहीं तो, जिस दिन फँसा कि बस विषय स्वाहा हुए। ललितकिशोरीजी पहले करोड़पति थे; पर जब वैराग्य हुआ और

प्रिया-प्रियतमका रंग चढ़ा तब उन्होंने गाया—

बन बन फिरना बेहतर हमको, रतन-भवन नहि भावै है।
लता तरे पड़ रहने मे सुख नाहिन सेज सुहावै है॥

नारायणस्वामी तो कहते हैं—

जाहे लगन लगी घनस्याम की।
धरत कहूँ पग परत कितैहू, भूलि जाय सुध धाम की॥
छबि निहारि नहि रहत सार कछु, निसि-दिन पल-छिन-जाम की।
जित मुँह उठै तितै ही धावै, सुरति न छाया घाम की॥
अस्तुति निंदा करौ भले हीं, मैंड तजी कुल-गाम की।
नारायन बौरी भई डोलै, रही न काहू काम की॥

पर इन सबको जीवनमें उतारनेसे ही काम बनता है, बातें करनेसे नहीं।

८—एक अकाट्य नियम है—मनसे एक ही काम होगा, श्रीकृष्णका चिन्तन या विषयका चिन्तन। आपको विश्वास कोई कैसे करा दे; पर यदि शास्त्रपर विश्वास करें तो शास्त्र इस सिद्धान्तसे भरे पड़े हैं कि भगवान् सर्वत्र हैं। प्रह्लादके लिये वे खम्भेसे निकल पड़े। उसी प्रकार सच्चे विश्वासी भक्तके लिये आज भी भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें खम्भेसे निकल सकते हैं। आपके मकानके प्रत्येक खम्भेमें श्रीकृष्ण हैं; पर जबतक आप मकानके खम्भेमें मन फँसाये रहियेगा, तबतक श्रीकृष्ण क्यों आने लगें। वे तो चाहनेवालेके सामने आते हैं। आप या कोई भी कहता है कि 'हे भगवन्! मकान नहीं छूटे, धन नहीं छूटे, रुपये-पुत्र बने रहें, बढ़ते रहें।' तो श्रीकृष्ण कहते हैं—'यह मेरे श्रीकृष्णरूपको नहीं चाहता, पर यह मेरा जो मायिक रूप है—धन, पुत्र, मकान उसीको चाहता है। तब मैं अपने असली रूपमें क्यों आऊँ?'

सारांश यह है कि श्रीकृष्णको ढूँढ़ने जानेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है मनसे सब कुछ निकालकर उनमें मन फँसा देनेकी। फिर तो जो यथार्थ वस्तु है, वह सामने आ ही जायगी। श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण हैं, दूसरी वस्तु है ही नहीं—यह प्रत्यक्ष करके आप निहाल हो जायँगे। यही दृष्टि श्रीगोपीजनोंकी थी। जहाँ दृष्टि पड़ती थी, वहीं श्रीकृष्ण उन्हें प्रत्यक्ष हो जाते थे।

९—बिलकुल ही अंधेर-खाता है। गीताका पाठ करते हैं, पर उसके श्लोकोंपर विश्वास नहीं। होना भी कठिन है; क्योंकि जब चाह ही नहीं, लगन ही नहीं, तब हो कैसे? मनमें जलन हो, तब तो भगवान्‌के सामने रोयें। पर मनुष्य तो विषयोंमें सुख देखता है। भगवान्‌के ध्यानकी बात सुननेपर केवल मुँहसे कहता है—'हाँ, अच्छी बात है,' पर भीतरसे वह उसे झूठ ही समझता है। नहीं तो, विषय नहीं छूटनेपर मन चौबीस घंटे रोता रहे।

देखिये, आप इस बातका अनुभव करते होंगे कि जब-जब आप भगवान्‌से हटते हैं, तभी-तभी अशान्ति और बढ़ती है। एक बार नहीं, बार-बार यही बात होगी। पर फिर भी जैसे कुत्तेकी पूँछ सीधी होती ही नहीं, वैसे ही मनुष्य विषयके मैलेसे निकलना चाहता ही नहीं। बड़ी दयनीय दशा है। अभी तो इन्द्रियाँ काम कर रही हैं और थोड़ी-बहुत साधना भी हो सकती है—सफलता भी मिल सकती है। मान लें, कुछ भी सफलता न मिले, फिर भी रातको सोते समय मनमें यह अपूर्व शान्ति तो रहेगी ही कि हमने इतनी चेष्टा कर ली। इसीलिये जपमें संख्या रखनेकी बात कही जाती है। आप करके देखें—जिस दिन बीस माला जपते हुए ध्यानकी चेष्टा होगी, उस दिन सोते समय मन आनन्दसे भर जायगा कि 'आज मैंने श्रीप्रिया-प्रियतमको दो हजार बार

याद करनेकी चेष्टा तो की। कम-से-कम पंद्रह सौ बार स्मरण तो हुआ ही होगा। ओह ! पंद्रह सौ बार आज भगवान् याद आये।' बस, यह संख्या आनन्दमें डुबो देगी। फिर संख्या बढ़ेगी। जिस दिन कहीं पाँच हजार बार अधिक सफल चेष्टा हो गयी, तब तो और भी आनन्द आयेगा। आप करके जाँच लीजिये। इस संख्याकी पूर्तिसे भी बड़ा आनन्द आयेगा। अवश्य ही जैसे बताया है, वैसे करनेपर होगा। एक मनका मालाका फिरा कि उसके साथ एक झाँकी बाँधनेकी चेष्टा हुई। इस प्रकार एक माला पूरी होते ही मनमें यह स्फुरणा होगी कि 'सौ बार चेष्टा हुई। अच्छा, बीस बार ठीक नहीं हुई होगी, अस्सी बार तो ठीक हुई होगी। अहा ! कितना आनन्द है, कितने सौभाग्यकी बात है—मुझे अस्सी बार श्यामसुन्दर एवं राधारानी याद आ गये, नहीं, नहीं, अस्सी बार मेरे मनमें आ गये।' इस प्रकार प्रत्येक माला आपके जीवनको उत्तरोत्तर आनन्दसे भर देगी। पर यह बात होगी लगनसे करनेपर तथा विषयोंको भस्म कर डालनेकी दृढ़ धारणा करके चलनेपर।

१०—आज सोच रहा था—मेरा कौन है ? कई स्फुरणाएँ हुई। लोग पूछते थे कि 'आपका स्वास्थ्य कैसा है ? स्वस्थ हैं न ?' मनमें आया 'स्वस्थ' का क्या अर्थ है; फिर सोचा—व्याकरणके अनुसार तो 'स्व' 'स्थ' अर्थात् जो स्वमें स्थित हो, वह स्वस्थ है। पुनः सोचने लगा—मेरा अपना कौन है ? मनसे उत्तर मिला—श्रीकृष्ण हैं। और कौन है ? राधारानी हैं। और कौन है ? मनसे पुनः उत्तर मिला—श्रीगोपीजन हैं। और कौन है ? श्रीनित्य दिव्य वृन्दावनधाम है। और भी आगे मनमें कई बातें आयीं, सब कई कारणोंसे बता नहीं सकूँगा। पर इन्हीं बातोंपर आप भी आज विचार कीजिये। इन चारोंके सिवा और कौन-सी वस्तु है, जो आपकी है। जो आपकी है, वह मरनेके बाद भी

साथ रहनी चाहिये। पर यहाँके तो धन, पुत्र, स्त्री, पद, गौरव—सभी छूट जायँगे, यहाँतक कि शरीर भी छूट जायगा। ये वस्तुएँ आपकी तो हैं नहीं। किंतु इन चारोंको देखिये—श्रीश्यामसुन्दर कभी नहीं छूटेंगे, राधारानी कभी नहीं छूटेंगी, श्रीगोपीजन कभी नहीं छूटेंगे, वृन्दावन भी कभी नहीं छूटेगा, यह इसलिये कि नित्य हैं, नित्य आपके साथ रहते हैं, इनका कभी विनाश, वियोग होता ही नहीं तथा ये बार-बार आपके मनमें आते हैं। यह इनकी कितनी दया है। पर जब आप इन्हें पराया मानकर छोड़ देते हैं और परायेको अपना मानकर इनकी जगह याद करने लगते हैं तब फिर ये छिप जाते हैं। ये सोचते हैं—अच्छी बात है, भाई! तुम हमें चाहते ही नहीं तो क्या करें। तुम याद करते हो, याद करते ही हम तुम्हारे मनमें आकर उपस्थित हो जाते हैं; पर हमारे आनेके बाद भी फिर तुम हमको तो ढँक देते हो और उसकी जगह स्त्री-पुत्र-धनको बैठा देते हो। तब बोलो, हमारा क्या अपराध है?'

११—केवल विश्वास चाहिये। भगवान्‌पर विश्वास होते ही सब काम बना-बनाया है। सकाम-निष्कामकी बात नहीं है। बात है भगवान्‌का भजन करनेकी, विश्वासपूर्वक भगवान्‌को स्मरण करनेकी। फिर चाहे किसी भी कामनासे आप भगवान्‌को क्यों न भजें, आपको श्रीभगवान् ही मिलेंगे। श्रीमहाप्रभु चैतन्यदेवके समान प्रेमकी शिक्षा देनेवाला और कौन मिलेगा? उन्होंने एक जगह स्वयं अपने प्रिय-से-प्रिय शिष्य श्रीसनातन गोस्वामीको शिक्षा देते हुए कहा था—'अन्यकामी यदि करे कृष्णेर भजन' (यदि मनुष्य किसी दूसरी कामनासे भी श्रीकृष्णका भजन करे तो) 'ना माँगि लेओ श्रीकृष्ण तारे देन स्व-चरण' (श्रीकृष्ण न माँगनेपर भी उसे अपने चरणोंको ही दे डालते हैं) ऐसा क्यों? इसपर कहते हैं—'कृष्ण कहे (श्रीकृष्ण कहते हैं)

आमाय भजे (यह मेरा भजन तो करता है) (पर) माँगे विषय-सुख' (माँगता है विषय-सुख)। (ओह!) 'अमृत छाड़ि माँगि विष एइ बड़ मूर्ख' (यह अमृत छोड़कर विष माँगता है—देखो तो, यह कितना मूर्ख है।) (किंतु) 'आमि विज्ञ' (मैं तो मूर्ख नहीं हूँ—मैं तो जानता हूँ, सब कुछ जानता हूँ।) किस बातमें इसका मङ्गल है, किसमें अमङ्गल है—सब जानता हूँ। 'एइ मूर्खे विषय केन दिब' (मैं भला जान-बूझकर इसका हितैषी होकर भी इस मूर्खको विषय देकर ही कैसे टाल दूँ। मैं तो) 'स्वचरण दिया विषय भुलाइब' (इसे अपने चरणोंका प्रेम देकर इसका विषय-प्रेम भुला दूँगा—इसके विषय-प्रेमको नष्ट कर दूँगा)।

सफलता होगी—पर निरन्तर उनको भजनेसे, उनको याद करनेसे। भाव चाहे कुछ भी हो। आप करते नहीं; यही कमी है। वास्तवमें आप चाहते ही नहीं, तब क्या हो।

१२—संत पाकर भी यदि जीवन भगवन्मय नहीं बन रहा है तो दो ही बातें हो सकती हैं। या तो आप जिसे संत मानते हैं, वह संत नहीं है, या आप चाहते नहीं। श्रीगौराङ्ग प्रभुकी शक्तिवाला संत कोई हो तो आपका काम बन सकता है। पर उसमें भी 'सब धान बाईस पसेरी' नहीं होगा। अधिकारीके अनुसार एवं श्रद्धातत्परताके कारण तारतम्य हो ही जायगा। श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने उस मल्लाहको भी प्रेम-दान दिया और रूप, सनातन, रघुनाथ—इन तीनों गोस्वामियोंको भी। पर क्या इनको समान प्रेम मिला! मल्लाहमें बीज बोया गया और गोस्वामियोंमें फल लगा दिया गया। एक व्यक्ति, मान लें, सर्वशक्तिमान् है। उसे आप चाहते हैं कि बस, 'सब कुछ लेकर मुझे आप अपनेको दे दीजिये।' दूसरा चाहता है—'हमें तो रोटी-कपड़ा

दीजिये।' तीसरा चाहता है—'हमें तो बस, खूब मान-सम्मान दीजिये।' चौथा कहता है—'हमें तो आपकी सेवा चाहिये और कुछ नहीं चाहिये ?' अब वह व्यक्ति है तो बड़ा प्रेमी और उसके पास जो सबसे बढ़िया-से-बढ़िया चीज है वही वह सबको देना चाहता है, पर लेनेवाला चाहता नहीं, वह उसकी दी हुई उस चीजको भी फेंक देता है। इसीलिये वह व्यक्ति सोचता है—'क्या हर्ज है; तुम जो चाहोगे, वही देंगे।' इसमें उसका क्या अपराध है !

१३—प्रेमकी चाह है—यह बड़े सौभाग्यकी बात है। उस इच्छाको छिपाये रखकर जीभसे निरन्तर नाम लीजिये। इसमें कोई परिश्रम नहीं। फिर देखियेगा, यह इच्छा आगकी तरह बढ़ने लगेगी। इसमें प्रयत्न करनेपर निश्चय सफलता होगी ही। मन लगना कठिन है, ठीक है, न सही; पर जीभसे नामका उच्चारण तो चाहनेपर अवश्य होगा। आप एक ही काम करें, शेष सब भगवान् करेंगे—वह काम है जीभसे निरन्तर नाम-जप। अवश्य ही यह भगवत्-कृपापर निर्भर है। परंतु भगवान्‌की आपपर कृपा है, विश्वास कीजिये। पूर्ण कृपा है और यह नामकी साधना निश्चय ही हो सकती है। यदि कोई कहे कि हमसे तो नहीं होती तो समझ लीजिये कि वह असलमें नाम लेना ही नहीं चाहता। एक बहुत बड़े संतने हमसे एक बार कहा था कि 'भगवान् भले ही दूसरी प्रार्थना सुननेमें थोड़ी देर भी कर दें, पर यदि कोई सचमुच चाहे कि हमसे निरन्तर नाम-जप हो और इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करे तो यह प्रार्थना निश्चय ही तत्क्षण पूरी हो जायगी।' भगवत्कृपाका अवलम्बन लेकर अपनी पूरी शक्ति लगाइये। शक्ति लगानेपर निश्चय ही नाम-जप होगा। जो ऊँची-से-ऊँची वस्तु है, जिससे परे कुछ भी नहीं है, वह सब बिना परिश्रम मिल जायगी।

आप तो केवल एक व्रत ले लें। चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, बस, जीभ मशीनकी तरह नामका उच्चारण करती रहे। फिर अपने-आप सब हो जायगा। सारी बात भगवान्‌की कृपासे हो जायगी। मनका पाप धुल जायगा। मनकी चञ्चलता मिट जायगी। विषयानुराग नष्ट हो जायगा। संतके प्रति निश्चल निःस्वार्थ प्रेमभरा आकर्षण उत्पन्न होगा, भगवान्‌पर संशयहीन विश्वास उत्पन्न होगा। इस प्रकार सब कुछ अपने-आप होकर अत्यन्त दुर्लभ वस्तु, जो भगवत्प्रेम है, वह भी सच्ची इच्छा होनेपर मिल जायगा। केवल एक-व्रत—निरन्तर जीभसे नाम। जैसे किसी मशीनका स्विच दबा देनेपर वह अविराम चलती ही रहती है—बड़ी-बड़ी मिलोंमें देखा होगा, वैसे ही जीभको भगवान्‌के नामकी मशीन बना दें। अच्छी बात जो भी मनमें आये, कीजिये, पर जीभसे नाम लेते रहिये। इसके बिना साकार या निराकार—किसी भी प्रकारका ध्यान लगाना बड़ा ही कठिन है। होता क्या है कि अधिकांशतः वृत्तियाँ शून्यमें लीन हो जाती हैं और लोग उसे ध्यान मान लेते हैं। मनमें भगवान्‌का जो भाव हो वही रखें; पर जीभ नाम लेती रहे। केवल एक नामकी शर्त पूरी कर दें।

१४—हमारे जँचनेकी तो एक ही बात है। चाहे जैसे हो, दो कामोंमें एक ही काम कर लेना चाहिये। या तो इस संसारको सर्वथा भूल जायँ तथा मनके सामने निरन्तर श्रीकृष्ण, श्रीराधा, श्रीगोपीजन और श्रीवृन्दावन ही नाचता रहे। अथवा जहाँ-जहाँ दृष्टि जाय, वहीं-वहीं यह दृढ़ भाव, कभी भी नहीं टलनेवाला भाव हो जाय कि जो कुछ दीखता है, जो कुछ सुनायी पड़ रहा है, सब कुछ श्रीकृष्ण है, सब उन्हींकी लीला है। दोमेंसे एक हुए बिना मनका राग-द्वेष मिटना कठिन है और जहाँतक राग-द्वेष है, वहाँतक शान्ति मिलनी कठिन है।

इन दोनोंमें अत्यन्त सहायक होता है—निरन्तर नामका अभ्यास। पर सब बात इसीपर निर्भर है कि हमारे जीवनका एकमात्र लक्ष्य भगवान् बन जायँ। यह ठीक-ठीक समझ लें कि जबतक कई और-और लक्ष्य रहेंगे, तबतक रास्ता कट जानेपर भी वह स्थिति सामने आनेमें बहुत विलम्ब लगेगा और जीवनभर कुछ-न-कुछ अशान्ति बनी ही रहेगी। एकमात्र लक्ष्य भगवान् हो जायँ तथा फिर जो भी चेष्टा करें, वह यह ध्यानमें रखकर करें कि यह चेष्टा मुझे अपने लक्ष्यसे गिरानेवाली है या उठानेवाली, तब फिर रास्ता बड़ी शीघ्रतासे कटेगा। उदाहरणके लिये आप...गये। वहाँ जाकर दिन-रातमें आपने अनेकों चेष्टाएँ कीं, खाया-पिया, घूमे, सोये, लोगोंसे मिले। अब विचार करके देखें कि आपने जो भी चेष्टाएँ की हैं, उनमें कौन-सी चेष्टा किस उद्देश्यको लेकर की है। आपने रास्तेमें किसी सज्जनसे बात की। अब बात करते समय आपका एकमात्र लक्ष्य यदि श्रीकृष्ण होंगे तो आपके मनकी दशा दोमेंसे एक प्रकारकी होगी। या तो आपको उक्त सज्जनके रूपमें श्रीकृष्णकी अनुभूति होगी और बात करते-करते आप आनन्दमें मुग्ध होते रहियेगा। अथवा मन बिलकुल उपराम रहनेसे उस समय ऊपरी मनसे तो आप बात करेंगे और भीतरी मन आपका श्रीकृष्णके रूपमें, गुणोंमें, लीलाओंमें लगा रहेगा। ऐसा न होकर यदि आपका और कुछ भाव रहता है तो साफ-साफ यह बात समझ सकते हैं कि आपका लक्ष्य श्रीकृष्ण नहीं है। देखें, दिव्य वृन्दावनसे सुन्दर यह स्थान नहीं है। दिव्य वृन्दावनके महलोंसे अधिक सुन्दर यहाँका कोई भी भवन नहीं है। पर जब आपका मन इस भवनके देखनेपर चलता है, तब फिर यह समझ लेना चाहिये कि अभी तो यह वृन्दावन देखना ही नहीं चाहता; क्योंकि यह नियम है कि लक्ष्य श्रीकृष्ण हो जानेपर दिन-रात

मस्तिष्क यही सोचता रहेगा कि कैसे वह रास्ता तय हो। उस समय यहाँका भवन आपको सुहायेगा नहीं। हाँ, यदि यह भाव हो कि सब कुछ श्रीकृष्णकी लीला है, तब तो कुछ कहना बनता ही नहीं। पर इसमें भी एक सावधानीकी आवश्यकता है। बढ़िया-बढ़िया चीजोंको लीला मान लेना आसान है; परीक्षा तो तब होती है, जब गरमी पड़ रही हो, पानी मिले नहीं और मन भीतरसे कहे कि यह भी श्रीकृष्णकी ही एक लीला है। खूब ठंडाई पीनेको मिले, मोटर घूमनेके लिये हो, हाथ जोड़े सेवा करनेवाले खड़े हों, उनमें श्रीकृष्णकी लीला मानना सरल है। इसीलिये आपसे प्रेमवश निवेदन किया है कि कहीं भी जायँ, कुछ भी करें, अपना लक्ष्य न भूलें। हम अमुक काम क्यों करते हैं—यह खूब विचार कर उसे करें।

किसीके यहाँ आप जीमने बैठे हैं। अब उस समय भी आपको यह ध्यान रहेगा कि हम खाते क्यों हैं ? श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये या भोग भोगनेके लिये ? भोग भोगनेके लिये खाना दूसरी तरहका होता है तथा श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये खाना दूसरी तरहका। आप खायेंगे; वे ही चीजें तथा जितनी खाते हैं, उतनी ही खायेंगे; पर श्रीकृष्ण लक्ष्य होनेपर आपका मन उस समय श्रीकृष्णका ही चिन्तन करता रहेगा या परोसनेवालेमें भी आपको श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण दिखायी देंगे तथा आपका मन आनन्दसे भरता ही रहेगा।

यदि आपका लक्ष्य श्रीकृष्ण है तो फिर मनमें संसारके चित्र तो बहुत अधिक पहलेसे ही भरे हुए हैं, अब यहाँके भवनको और क्यों भरें। यह नया मैल ही तो भरेगा। उसकी जगह यदि श्रीकृष्णके उन निकुञ्जोंको याद कर सकें, जो एक-से-एक बढ़कर सुन्दर हैं, जिनकी छायाको भी संसारके समस्त बागीचोंकी सुन्दरता नहीं छू सकती, उन

निकुञ्जोंमें मन फँसायें तो कितना लाभ हो। स्वयं शान्ति पायें तथा अपने पास रहनेवालेको भी शान्ति दें। हाँ, एक बात है। मन है बदमाश। यह रुके नहीं तो एक और उपाय है। जैसे उस महलमें गये थे, वहाँ पता नहीं क्या-क्या देखा। पर जो-जो चीज आपने देखी, उसी-उसीके आधारपर दिव्य वृन्दावनकी कल्पना उसी समय साथ-साथ करते जाते तो जैसे जहरके साथ अमृत भरा जाय वैसे ही इन संस्कारोंके साथ ही एक ऐसी दिव्य चीज मस्तिष्कमें घुसती चली जाती कि वह बहुत काम देनेवाली हो जाती। आपकी बात नहीं, पर प्रायः ऐसा ही होता है कि इन चीजोंको देखते समय भगवान्‌को तो हम भूल जाते हैं और चीज—माया-माया केवल दीखती है—जिसका परिणाम होता है दुःख।

इस मनसे ही तो लड़ना है। इसीमें तो बहादुरी है। इससे कहिये—'यार! अनादि-कालसे तेरे कारण ही मैं श्रीकृष्णसे बिछुड़ा हुआ हूँ। पर अब श्रीकृष्णकी कृपासे तुझे मैं श्रीकृष्णके पास ले जाकर निहाल कर दूँगा। स्वयं निहाल हो जाऊँगा। यह न करके आप मनका कहा करेंगे तो फिर तो, यह अभी आपको भवन देखनेके लिये कहता है, फिर बाजार देखनेको कहेगा, दूकान सम्हालनेके लिये कहेगा। इसपर तो शासन करना होगा। चतुराईसे जैसे यह आपको धोखा देता है, वैसे ही चतुराईसे आप इसे बाँध लीजिये। जब यह बहुत अड़ जाय कि मैं तो अमुक चीज देखूँगा ही और वह पापकी बात न हो तो दिखा दीजिये। पर उसके साथ ही किसी-न-किसी रूपमें श्रीकृष्णको भी जोड़े रखिये, जिससे उस जहरका असर न हो।

अत्यन्त प्रेमसे कहता हूँ, कोई बात अनुचित हो तो क्षमा कीजिये। प्रेमवश कह रहा हूँ। इस शरीरको बिलकुल मनसे उतार देनेकी चेष्टा करनी चाहिये। मामूली सर्दी-गर्मी भी यदि सहन नहीं

होगी तो फिर वृन्दावनमें जीवन कैसे बीतेगा ? वहाँ तो मच्छर खूब काटेंगे। पानी गरम-गरम पीनेको मिलेगा। पासमें यदि पैसा न रहा तो खानेका भी ठिकाना नहीं कि रोज मिले ही। फिर यदि पित्त गरम होनेकी परवा बनी रही तो व्रजमें वास कैसे कर सकेंगे। इसका यह अर्थ नहीं कि खाये-पीये नहीं। अच्छी तरह खाइये, पर मनसे ये चीजें उतर जायँ। लू चल रही है। अब बार-बार सोचिये—'अरे बाप रे! बहुत लू चल रही है' तो अशान्ति बढ़ेगी। यह न करके सोचिये—'अहा! क्या ही सुन्दर जीवन दो दिनके लिये मिला है, घर रहते तो इस लूका आनन्द कहाँ मिलता।' फिर मनमें आनन्द होने लगेगा।

भागवतमें कहा है—'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, सभी प्राणी, सभी दिशाएँ, सभी वृक्ष, सभी नदियाँ, नद-समुद्र—ये सब-के-सब, चाहे अचर हों या चर हों—कोई भूत हो—सब श्रीकृष्णके शरीर हैं, यों मानकर अनन्य भावसे सबको प्रणाम करे। अब लू चल रही है, गरमी है; उसमें आग है ही तथा वायु भी है। यदि यह भावना हो जाय कि अग्नि एवं वायुरूपसे मेरे शरीरको श्रीकृष्ण ही छू रहे हैं तो कितना आनन्द हो।

१५—खूब तत्परतासे नित्य वस्तुमें मन डुबाइये। नहीं तो, सच मानिये, इतना पश्चात्ताप हो सकता है कि उसकी कोई सीमा नहीं है। बिलकुल गाँठ बाँधकर रख लें। भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला आदिके सिवा यदि मन कुछ भी चिन्तन करता है तो समझ ले कि घाटेका कोई हिसाब ही नहीं है। अभी पता नहीं लगता, अभी चेष्टा नहीं होती, पर इन्द्रियाँ मरनेके समय इतनी व्याकुल हो जाती हैं कि बिना अभ्यास भगवान्‌में मन स्थिर होना बड़ा ही कठिन होता है। अतः जीवनका शेष समय पूरा श्रीभगवान्‌में लगाइये। बड़ी तेजीसे रास्ता

काटिये, नहीं तो, परिवार-धन-जनमें कहीं मन फँसा रहा और मृत्यु हो गयी तो जीवन बिलकुल व्यर्थ ही हो गया समझिये।

१६—एक भगवान् ही ऐसे हैं, जिनको पकड़ लेनेपर, फिर कभी किसी भी अवस्थामें तनिक भी दुःख नहीं होता। जो जितने अंशमें पकड़ लेता है, उतने अंशमें उसका दुःख कम हो जाता है तथा पूरा पकड़ लेनेपर दुःख बिलकुल नहीं रह जाता। अब आप देखें—लोग बेचारे कितने दुःखी रहते हैं। यदि उनमेंसे कोई भगवान्‌को पकड़ ले तो वह दुःखी नहीं होगा; क्योंकि उसके मनमें यह दृढ़ विश्वास रहेगा कि परम सुहृद् सर्वशक्तिमान् भगवान् मेरे साथ हैं; फिर क्या डर है। आप निश्चय समझिये, जो काम आपके लिये सर्वथा असम्भव है, भगवान् चाहें तो क्षणभरमें उसे कर दे सकते हैं। उनके लिये कोई ऐसा काम ही नहीं है, जिसे वे न कर सकें। केवल विश्वास चाहिये। एक कथा आती है—महाप्रभु श्रीचैतन्य कीर्तन कर रहे थे श्रीवासजीके आँगनमें। श्रीवासजीका लड़का मर गया; पर श्रीवासजीने स्त्रियोंसे कहा कि 'यदि रोओगी तो महाप्रभुका कीर्तन भङ्ग हो जायगा और यह हुआ तो मैं गङ्गामें डूबकर प्राण दे दूँगा।' स्त्रियाँ डर गयीं। अब बेटा भीतर मरा पड़ा है और आँगनमें कीर्तन करते हुए महाप्रभु नाच रहे हैं; पर धीरे-धीरे और लोगोंको यह बात मालूम हो गयी, सबका उत्साह कम होने लगा और सब धीरे-धीरे नाचना छोड़कर बैठ गये। महाप्रभुको बहुत देर बाद बाह्यज्ञान हुआ। वे बोले—'क्या बात है? मालूम होता है, कोई अनिष्ट घटना घट गयी है।' लोगोंने उनसे सारी बात कह दी। महाप्रभुने लड़केके शवको मँगवाया और लगे नाचने। लड़केमें प्राणका संचार हो गया। श्रीवासने देखा—यह तो गजब हो गया, इस लड़केका बड़ा सौभाग्य था कि उसकी ऐसी मृत्यु हुई थी। लड़का बातें

करने लगा। फिर श्रीवासने प्रार्थना की कि—'महाप्रभु! ऐसा मत करो।' इसके बादकी ठीक घटना हमें याद नहीं; शायद जब घरके सभी लोगोंको संतोष हो गया कि इसको मरनेका ऐसा सौभाग्य और नहीं प्राप्त होगा, तब फिर महाप्रभुने कहा—'अच्छा, यही सही।' यह इसलिये हुआ था कि श्रीवासका यह भाव था कि महाप्रभु साक्षात् भगवान् हैं। पर श्रीवासके लिये प्रभुने वैसा नहीं किया था। किया था उस लड़केकी माताके संतोषके लिये। ऐसी कोई घटना नहीं है कि जिसे भगवान् न कर सकें।

१७—जहाँ भगवान् एवं संतमें विश्वास है, वहाँ सब कुछ सम्भव है। गोपी-प्रेमके उपासक एक बहुत बड़े संत नरोत्तमदास हो गये हैं। वे जातिके कायस्थ थे। पर ब्राह्मण लोग उनको बहुत मानते थे। इसपर ब्राह्मणोंकी एक बहुत बड़ी टोलीने उनका विरोध किया। बहुत-से ब्राह्मण शिष्य भी थे, उन्हें बड़ा दुःख हुआ। आखिर नरोत्तमदासजीकी आयु समाप्त हुई। वे गङ्गातटपर मरे। मरते समय बोली बन्द हो गयी। फिर तो ब्राह्मणोंकी एक बहुत बड़ी भीड़ने मजाक उड़ाना शुरू किया। कोई कहता—'बहुत ठीक हुआ, बड़ा भक्त बना था।' कोई कुछ कहता, कोई कुछ। उनका शरीर छूट गया, पर उनके ब्राह्मण शिष्योंको बड़ा दुःख हुआ। एक शिष्य बड़ा विश्वासी था। वह ब्राह्मण था। उसने मन-ही-मन प्रार्थना की 'गुरुदेव! एक बार जी उठिये तथा इन सभी ब्राह्मणोंका उद्धार करके जाइये।' उसकी प्रार्थना सच्चे हृदयकी थी। बिलकुल जलानेकी तैयारी हो ही रही थी कि नरोत्तमजी धीरे-धीरे उठ बैठे और लगे हँसने। अब तो ब्राह्मणोंके होश गुम हो गये; क्योंकि उन्होंने बहुत गालियाँ दी थीं। आखिर एक-एक ब्राह्मणने आकर क्षमा माँगी और सब शिष्य हुए। सबने उनसे श्रीकृष्णमन्त्रकी दीक्षा ली।

इसके बाद सात दिनके लगभग वे जीते रहे। अन्तिम दिन बोले—'मुझे गङ्गामें ले चलो।' गङ्गामें जाकर खड़े हुए शिष्योंसे कहा—'मेरा शरीर मलो।' शिष्योंने शरीर मलना शुरू किया। ऐसा मालूम हुआ मानो शरीर दूधका पुतला था, पानीमें घुल गया।

१८—चार चीजें हैं, जो बिना श्रद्धाके भी काम देती हैं (१) नाम, (२) धाम, (३) लीला, (४) संत। इसमेंसे किसीके साथ प्राणकी बाजी लगाकर जुड़ जाय। १.नामसे जुड़े तो फिर ऐसा हो जाय कि प्राण छूटे, पर नाम नहीं छूटे। २.धामसे जुड़े तो ऐसा जुड़े कि चाहे बम बरसे, व्रज-रजपर ही प्राण छोड़ेंगे, यहाँसे बाहर नहीं जायँगे। ३.लीलासे जुड़े तो ऐसा जुड़े कि इस जगत्‌को बिलकुल भूल जाय—यहाँतक कि चर्मचक्षुसे भी हर जगह लीला-ही-लीला देखें। ४.संतसे जुड़े तो ऐसा कि प्राण रहते तो अलग नहीं होऊँगा, मुर्दा शरीर ही अलग होगा। ऐसा होनेपर ही श्रीप्रियाप्रियतमकी कृपा प्रकट होती है।

१९—भगवान् सबकी सँभाल करते हैं, फिर जो उनका हो गया है, उसकी करें—इसमें कहना ही क्या है। एक संतकी बात है। वे बदरीधाम जा रहे थे। रास्तेमें टट्टी लगने लगी। चालीस-पचास टट्टियाँ लगीं। अब साथियोंने तो उन्हें छोड़ दिया। वे बेचारे रास्तेसे कुछ हटकर जंगलमें एक गुफामें जाकर पड़ रहे। दूसरे दिन एक बूढ़ा आया एक पुड़िया दवा और दही-भात लेकर। संतने दवा खा ली और दही-भात खा लिया। तीन-चार दिन वह रोज दवा और दही-भात लाता रहा और वे खाते रहे। तीन-चार दिन बाद उनके मनमें कौतूहल हुआ कि यह कौन है; अतः जब वह दही-भात लेकर आया, तब उन्होंने उससे पूछा—'तुम कौन हो?' उसने कहा—'इससे तुम्हें

मतलब ? दवा ले लो, दही-भात खा लो।' संत बोले—'पहले बताओ कि तुम कौन हो।' वह बोला कि—'यह नहीं बताऊँगा।' बाबा बोले—'मैं भी दही-भात नहीं खाऊँगा।' उसने कहा—'मत खाओ' और यों कहकर वह लौटने लगा। पुनः कुछ देर बाद आया और बोला—'खा लो।' बाबा बोले—'बताओ।' आखिर वहीं उस बूढ़ेकी जगह भगवान् प्रकट हो गये। संत बोले—'महाराज ! कुछ अनुमान हो गया था कि इस भयानक जंगलमें आपके सिवा और कौन होगा। पर नाथ ! क्या स्वयं आप इस प्रकारकी सेवा भी करते हैं ?' भगवान्‌ने कहा—'जहाँ कोई होता है, वहाँ तो प्रेरणा कर देता हूँ, नहीं होता तो स्वयं आता हूँ।' यह सच्ची घटना है और कुछ ही समय पहलेकी बात है।

२०—दक्षिणमें एक भक्त हुए हैं; वे भगवान्‌के बहुत ही विश्वासी थे, गाँवके जमींदार थे। एक साल अकाल पड़ा। कोठेका अनाज तो बाँट ही दिया, अपना मकानतक बेचकर गरीबोंको लुटा दिया। स्त्री-पुरुष पेड़के नीचे रहने लगे। उनका नियम था—एकादशीका उपवास करना फिर द्वादशीके दिन ब्राह्मण-भोजन कराके तब पारण करना। एकादशीके दिन वे पंढरपुर जाया करते थे। इस बार भी गये, दर्शन किया, किंतु पासमें कुछ नहीं था। कुछ दिन पहले बहुत धनी थे, पर आज फूटी कौड़ी भी पास नहीं थी। लकड़ी बेचनेसे तीन पैसे मिले। एक पैसाकी फूल-माला ली, एक पैसेका प्रसाद चढ़ा दिया तथा एक पैसा दक्षिणामें दे दिया। दूसरे दिन लकड़ी बेचनेपर फिर तीन पैसे मिले। उनका आटा ले लिया, पर अब केवल आटेका निमन्त्रण स्वीकार करनेके लिये कोई ब्राह्मण तैयार नहीं हुआ। दो पहर हो गया। एक-एक करके ब्राह्मण आते, पर खाली

आटा देखकर अस्वीकार कर देते। अन्तमें भक्त-दम्पति मनमें सोचने लगे—'प्रभो ! हमारा नियम क्या आज भङ्ग होगा ?' इतनेमें एक ब्राह्मण आया, जो अत्यन्त बूढ़ा था। बोला—'पटेल ! बड़ी भूख लगी है।' उस बेचारेने लजाकर कहा—'महाराज ! मेरे पास तो केवल आटा है।' ब्राह्मणने कहा—'फिर क्या चाहिये। यहींसे थोड़े कंडे इकट्ठे कर लें। मैं बाटी बनाकर खा लूँगा।' यही हुआ, बाटी बनने लगी। इतनेमें एक बुढ़िया आयी। ब्राह्मण बोले—'बड़ा अच्छा हुआ, पटेल ! यह मेरी स्त्री है, हम दोनों प्रसाद पा लेंगे।' पटेल लज्जित हो गये, सोचने लगे—'एक आदमीके लिये भी आटा पर्याप्त नहीं है, दो कैसे जीमेंगे। पर भगवान्‌की लीला थी, बाटी बनायी गयी और ब्राह्मणने कहा—'एक पत्तल तुम अपने लिये भी ले लो। पटेल बड़े विचारमें पड़ गये। अन्ततोगत्वा बहुत कहने-सुननेके बाद ब्राह्मण-ब्राह्मणी जीमने लगे। कुछ खाकर अन्तर्धान हो गये। पटेल बड़े चकित हुए। प्रसाद पाकर मन्दिरमें दर्शन करने गये। वहाँ भगवान् प्रत्यक्ष चिन्मयरूप धारणकर बात करने लगे। बहुत बातें हुईं। अन्तमें भगवान् बोले—'भाई ! हमें ऐसी ही बाटियाँ खानेमें आनन्द आता है।' पटेलने पूछा—'महाराज ! तब क्या आप बड़े-बड़े यज्ञोंमें नहीं जाते ?' भगवान्‌ने कहा—'वे लोग हमको खिलाना ही नहीं चाहते।' पटेलसे भगवान्‌ने फिर कहा—'कल तमाशा देखना, उसी ब्राह्मणके वेशमें मैं कल अमुक जगह जाऊँगा; देखना, मेरी कैसी पूजा वहाँ होती है।'

एक बहुत बड़े धनीके यहाँ यज्ञ था। हजारों ब्राह्मणोंका निमन्त्रण था। ठीक जीमनेके अवसरपर वे ही बूढ़े बाबा पहुँचे और बोले—'जय हो दाताकी। एक पत्तल हमें भी मिल जाय। बहुत भूखा हूँ।' लोगोंने पूछा—'आपको निमन्त्रण मिला है ?' ब्राह्मण बोले—

'निमन्त्रण तो नहीं मिला, पर हूँ बहुत भूखा; बड़ा पुण्य होगा।' ब्राह्मणकी एक बात भी उन लोगोंने नहीं सुनी। आखिर ब्राह्मण जबर्दस्ती एक पत्तल लेकर बैठ गये। अब तो धनिक बाबूके क्रोधका पार नहीं रहा। उन्होंने हाथ पकड़कर ब्राह्मणको निकलवा दिया। पटेल देख रहे थे। बूढ़े ब्राह्मण पटेलको इशारा करके कह रहे थे—देखा—'हमारा सत्कार कैसा होता है ?' फिर कहा—'अब देखो क्या होता है।' उसी समय बहुत जोरकी आँधी आयी, बड़े-बड़े ओले गिरने लगे। सारा यज्ञ नष्ट हो गया ! एक ब्राह्मण भी भोजन नहीं कर सका। कथा बहुत विस्तारसे एवं बहुत लम्बी है। सारांश यह कि किसी भी दुःखीको देखकर उसमें विशेषरूपसे भगवान्‌को देखना चाहिये।

२१—असलमें तो आर्त्त भक्त, अर्थार्थी भक्त भी बनना बड़ा कठिन है। कोई सच्चा आर्त्त, सच्चा अर्थार्थी हो जाय, तब तो फिर क्या पूछना ! उसका दुःख भी मिट जाय एवं भगवान्‌को पाकर वह कृतार्थ भी हो जाय—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। आर्त्त भक्त हो चाहे अर्थार्थी, उसमें अनन्यनिष्ठा होनी ही चाहिये। अनन्यनिष्ठाका अर्थ यह कि और सभीपरसे—सभी साधनोंपरसे भरोसा उठाकर मनमें यह निश्चय कर ले कि 'मेरा यह काम तो भगवान् ही पूरा करेंगे।' मान लें हमें कोई बीमारी है। अब यदि ठीक-ठीक मनमें यह निश्चय हो कि यह बीमारी प्रभुसे ही दूर करवानी है तो निश्चय मानिये प्रभु उसे दूर कर देंगे। पर यदि कोई कहता है कि प्रभु तो दूर करेंगे ही, पर निमित्त तो दवा बनेगी। तो समझ लीजिये कि असलमें उसका विश्वास भगवान्‌पर नहीं है, विश्वास दवापर है। फिर भगवान् भी जब अच्छा करेंगे तब सीधे जादूकी तरह नहीं करेंगे किसी दवासे ही करेंगे। ऐसा न होकर यदि यह धारणा कर लें कि दवासे क्या होगा, प्रभु अच्छा

करेंगे; तो सच मानिये बिना दवाके कठिन-से-कठिन रोग—जिसका अच्छा होना असम्भव मान लिया गया है, अच्छा हो सकता है और एक क्षणमें ऐसा हो सकता है मानो उस बीमारीका कोई चिह्न भी नहीं रह गया हो—मानो वह बीमारी कभी हुई न थी।

इसी प्रकार अर्थार्थी भक्त भी भगवान्‌की कृपा पाकर एक क्षणमे निहाल हो सकता है तथा एक क्षणमें एक अत्यन्त दरिद्रको भगवान् अरबपति, असंख्यपति बना सकते हैं। कोई कहे कि 'मैं धनके लिये भजन करता हूँ' तो उसे सोचना चाहिये कि मेरी निष्ठा भगवान्‌पर है या नहीं। यदि निष्ठा है तो उसकी यह पहचान है। कोई उसे आकर यह कहे कि 'हम गारंटी करते हैं—तुम यह सौदा कर लो, तुम्हें जरूर लाख रुपये मिल जायँगे। नहीं मिले तो हम लाख रुपये तुम्हें अपने पाससे देंगे।' इसपर भी यदि उसका मन न डिगे तथा वह यह न स्वीकार करके भजन ही करता रहे, तब वह सच्चा अर्थार्थी भक्त है और उसके लिये फिर भगवान् अपना सम्पूर्ण भंडार खोलकर उसे निहाल कर देंगे। आजकल लोग भजन तो करते हैं, दो-चार माला जपते हैं, पर साथ ही सौदे-सट्टेमें भी रुपया लगाते रहते हैं। यह अर्थार्थी भक्तका लक्षण तो है नहीं; इसी कारण आजकल न तो आर्त्त भक्तके लिये जादूका-सा खेल भगवान् करते हैं और न अर्थार्थीको ही जादूकी तरह कोटिपति बनाते हैं।

२२—भगवान्‌से सच्चे मनसे प्रार्थना कीजिये—'मेरे नाथ! यदि आप मुझे इसी गिरी अवस्थामें देखना पसंद करते हैं, इस प्रकारसे निरन्तर मेरे मनमें अशान्ति बनी रहने देनेमें ही आपका चित्त प्रसन्न होता है—बार-बार मेरे सामने आप आते हैं और आपका मैं तिरस्कार कर देता हूँ, यदि इसी घृणित अवस्थामें मुझे रखकर आप प्रसन्नताका

अनुभव करते हैं तो फिर अपनी इच्छा पूर्ण करते हो, नाथ! क्योंकि आप यदि ऐसा चाहते हैं तो इसीमें मेरा परम मङ्गल है। पर यदि ये सब दोष मेरी कमीके कारण होते हों—मेरी तत्परताकी कमीके कारण, मेरे अविश्वासके कारण होते हों तो प्रभो! अब बहुत हो चुका। नाथ! अब कृपा करके इसी क्षण इन्हें मिटा दो। मैं अबोध हूँ, अज्ञानी हूँ, पतित हूँ; मुझे पता नहीं कि मेरे मनमें ये दोष किस कारणसे आते हैं। इनके मिटानेका उपाय तो सुनता हूँ; पर उसका आचरण भी मुझसे नहीं होता। क्यों नहीं होता, इसका कारण भी मैं नहीं जानता। अतएव हे दयाके सागर! अब मेरी ओर निहारो और फिर जो उचित हो, करो। शान्ति यदि मेरी कमीके कारण मुझे नहीं मिल रही है तो फिर मेरी कमीको मिटा दो, इसी क्षण मिटा दो, और यदि तुम्हारी इच्छासे शान्ति नहीं मिल रही हो, तब तो मुझे कुछ कहना है ही नहीं; यह अशान्ति ही मेरा परम प्रिय धन है—मैं ऐसा अनुभव करने लगूँ; क्योंकि तुम मेरे स्वामी हो, तुम्हारा मुझपर पूर्ण अधिकार है। मैं तुम्हारी वस्तु हूँ, तुम जैसे रखना चाहो, वैसे ही रखो।'

यह है प्रेममिश्रित भावकी प्रार्थना। यह नहीं हो और शान्ति चाहिये—जैसे भी हो, शान्ति मिलनी चाहिये तो फिर यह कामना सीधे शब्दोंमें करके यही माँगना चाहिये कि 'हमको शान्ति दो, हे नाथ! शान्ति चाहिये, शान्ति दो।' शान्ति पानेके लिये यही सर्वोत्तम उपाय मैं जानता हूँ, करता हूँ। वही मैंने आपको भी बतला दिया।

२३—यदि उनपर विश्वास न होता हो तो यह भी उन्हींसे कहिये। उन्हींसे पूछिये—'नाथ! कहाँसे विश्वास लाऊँ? पैसेसे खरीदनेकी चीज तो यह है नहीं। तुम कह सकते हो, उपाय बतलाता हूँ उसे करो। पर नाथ! उपाय, पता नहीं क्यों मुझसे नहीं होते। सुन

लेता हूँ, यत्किंचित् करनेकी भी चेष्टा करता हूँ, पर वे मुझसे हो नहीं पाते, ठीक मौकेपर मैं फेल हो जाता हूँ, अब तुम्हीं बताओ नाथ ! क्या करूँ ? यदि तुम कहो कि काम, क्रोध, लोभको मेरे बलपर डाँटो तो नाथ ! मेरा आपके बलपर यथार्थ विश्वास ही नहीं होता। क्या करूँ ?'

२४—सोचकर देखिये, हृदयकी बात किससे कहें ? कौन ऐसा है, जो सर्वसमर्थ है और हमारी सहायता कर सकता है ? तो यही उत्तर मिलेगा—एकमात्र प्रभु ही ऐसे हैं। उनमें शक्तिकी कमी नहीं। वे हमारे मित्र भी हैं तथा उन्हें हमारी इस घृणित दशाका पूरा-पूरा पता भी है। फिर उनको छोड़कर और किसकी शरणमें जायँ ? सूरदासने गाया है—*'तुम तजि और कौन पै जाऊँ ?'* काम, क्रोध, लोभसे तंग आकर कहिये—काम, क्रोध, लोभ—ये तीनों, क्या नाथ ! आपसे अधिक शक्तिशाली हैं ? नहीं हैं। आपको यह पता भी है कि इसको ये तंग करते हैं। आप मेरे मित्र भी हैं तथा आपमें इन्हें मार डालनेकी शक्ति भी है—फिर मेरी ऐसी घृणित दशा क्यों है ? मैं नहीं जानता, आप ही जानें। सार बात यह है कि किसी प्रकार भगवान्‌से जुड़िये; चाहे सकाम-भावसे ही सही।

२५—पार्वतीजीने पूछा—'मुझे श्रीकृष्णकी महिमा कुछ बताइये।' शंकरजीने कहा—'देवी ! जिसके चरणनखकी महिमाका वर्णन असम्भव है, उसकी महिमा क्या बताऊँ।' फिर बोले—'सुनो, प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक ब्रह्मा, एक विष्णु और एक मैं—शंकर रहते हैं। हम तीनों-के-तीनों उन श्रीकृष्णकी कलाके करोड़वें अंशसे उत्पन्न होते हैं। इतने तो वे प्रभावशाली हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक कामदेव रहता है। वह इतना सुन्दर है कि समस्त ब्रह्माण्डको मोहित किये रहता है।

पर उसमें जो सुन्दरता है, वह श्रीकृष्णकी सुन्दरताका करोड़वाँ-करोड़वाँ अंश है। वे इतने सुन्दर हैं। उनके शरीरसे इतना तेज, इतनी चमक निकलती है कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें जितने सूर्य हैं, सब-के-सब उस चमकके करोड़वें अंशसे प्रकाशित होते हैं। उनमें श्रीकृष्णकी अङ्ग-प्रभाके करोड़वें अंशसे प्रकाश आता है। जगत्में जितनी मनको मोहनेवाली सुगन्धियाँ हैं, सुगन्धित फूल हैं, सबमें श्रीकृष्णके अङ्ग-गन्धके करोड़वें अंशसे गन्ध आती है। और बहुत-सी बातें बतायी हैं—ये सब कविकी कल्पना नहीं, ध्रुव सत्य हैं तथा सचमुच ही किसीको श्रीकृष्णके ऐश्वर्य-सौन्दर्य-माधुर्यपर विश्वास हो जाय तो फिर उसको जीवनमें केवल श्रीकृष्णकी ही चाह रहेगी, बाकी चाहें सब मिट जायँगी।'

२६—आप सात बातोंके लिये प्राणोंकी बाजी लगाकर चेष्टा कीजिये। प्रेम उत्पन्न होनेके पहिले ये सात बातें अवश्य हो जाती हैं, तब प्रेम प्रकट होता है। नहीं तो आप हों या कोई हो, रास्ता तय करना बड़ा कठिन है।

प्रेम न बाड़ी नीपजै प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै सीस देइ लै जाय॥

—यह बिलकुल सत्य है। बहुत बात कर लेंगे, लीला भी सुन लेंगे, लाभ भी थोड़ा होगा ही, पर इन सातके आये बिना वास्तविक प्रेम प्रकट ही नहीं होता। यह ठीक है कि पूर्णरूपसे ये सात बातें तो तभी होती हैं, जब भगवान्का साक्षात्कार हो जाता है; पर उसके पहले साधकको चाहिये कि वह इनको अपने अंदर पूरी-पूरी उतारनेके लिये सम्पूर्ण प्रयत्न करे। वे बातें ये हैं—

(१) शान्ति रखना—इसके लिये शास्त्रमें दृष्टान्त आता है कि

राजा परीक्षित् बिना अन्न-जलके सात दिन कथा सुनते रहे, पर उनमें शान्ति इतनी थी कि अन्न-जल उन्हें याद ही नहीं आता था।

(२) भगवान्‌के भजनके सिवा और किसी काममें समय बिलकुल नहीं लगाना।

(३) संसारके समस्त भोगोंसे ऐसा वैराग्य हो जाय कि ये विष्ठा-से दीखने लग जायँ। जिस प्रकार विष्ठाको देखकर घृणा होने लगती है; मुँह-नाक बंद करके हम चलते हैं कि कहीं दुर्गन्ध न आ जाय, ठीक उसी प्रकार समस्त भोगोंसे आन्तरिक घृणा हो जाय।

(४) मनमें अपने अंदर मानका बिलकुल भाव ही न रहे। शास्त्रमें दृष्टान्त आता है कि राजा भरत जब प्रेमके लिये व्याकुल हुए तब वे इतने अधिक मानशून्य हो गये थे कि राज्य करते समय जिन-जिन राजाओंपर विजय प्राप्त की थी, जिन-जिनसे उनकी शत्रुता थी, उन्हींके घरमें जाते थे और उनकी दी हुई रोटीके टुकड़े माँग-माँगकर पेट भरते हुए भजन करते थे—और अपने शत्रुको ही नहीं, चाण्डालतकको प्रणाम करते थे।

(५) दिन-रात मनमें यह विश्वास, यह भरोसा बढ़ता रहे कि मुझे श्रीकृष्ण अवश्य-अवश्य मिलेंगे। यह विश्वास मनसे एक क्षणके लिये भी दूर न हो।

(६) निरन्तर नामका गान अतिशय प्रेमसे हो, भाररूपसे नहीं—मालाकी संख्या पूरी करनेके लिये नहीं; बल्कि नाम इतना प्यारा लगे कि प्राण भले छूट जायँ, पर नाम नहीं छूटे।

(७) जहाँ-जहाँ भगवान्‌की लीलाएँ हुई हैं, उन-उन स्थानोंमें अतिशय प्रेम हो।

ये सात बातें तो धारण करनेकी हैं और चार बातें विघ्नरूप हैं,

जिनसे बचनेकी चेष्टा प्राणोंकी बाजी लगाकर करनी चाहिये। ये चार बातें ही प्रेमकी प्राप्तिमें बाधक होती हैं। जहाँ ये छूटीं कि बस, प्रेमका रास्ता बड़ी शीघ्रतासे तय होने लगता है। इनको शास्त्रमें 'अनर्थ' कहते हैं, जो असलमें भगवान्से हटाते रहते हैं। वे चार ये हैं—

(१) **दुष्कृतजात अनर्थ**—अर्थात् पूर्वजीवनमें तथा इस जीवनमें जो-जो बुरे कर्म किये हैं, उनके संस्कार मनपर जमा रहते हैं और वे बार-बार बुरे कर्मोंकी स्फुरणा कराकर साधकको बुराईकी ओर घसीट ले जाते हैं। अतः पहले जो हो चुके उनके लिये तो क्या किया जाय; पर अब यह पूरा ध्यान रखना चाहिये कि बुरे कर्म हमारे द्वारा भूलसे भी, कभी भी न हों। झूठ-कपट आदि सभी बुरे कर्म मार्गसे बहुत दूर हट जायँ।

(२) **सुकृतजात अनर्थ**—अपने जो पूर्वजीवनमें एवं इस जीवनमें पुण्य किये हैं, उनके फल आकर बाधा डालते हैं—जैसे पुण्यके फलसे आपको धन-मान प्राप्त हो गया है, जो आपके मार्गमें बाधा दे रहा है। इससे बचनेका उपाय यह है कि सच्चे मनसे भगवान्को अपने सब पुण्य समर्पण कर दिये जायँ तथा भीतरी हृदयसे उनका फल नहीं चाहा जाय।

(३) **अपराधजात अनर्थ**—दस प्रकारके नामापराध एवं चौंसठ प्रकारके सेवापराधोंसे, जहाँतक हो बचना चाहिये। ये इतने भयानक दोष हैं कि 'बहुत ऊँचे उठे हुए साधकोंको भी नीचे गिरा देते हैं। इनसे बचनेका उपाय है—सच्चे मनसे भगवान्से प्रार्थना करना कि 'हे नाथ! मुझे अपराधसे बचाओ' तथा जान-बूझकर कभी अपराध न करनेकी पूरी चेष्टा करना। अबतक बहुत अपराध हो चुके हैं और अब भी होते हैं, इसीलिये रास्ता रुक रहा है।'

****

(४) **भक्तिजात अनर्थ**—यह विघ्न आपको कम सतायेगा। यह हमारे-जैसे संन्यासी तथा साधकोंको बहुत तंग करता है। यह है भक्ति करके उसके द्वारा सम्मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा चाहना। इससे भी मार्ग रुक जाता है।

इन चारों अनर्थोंसे बचते हुए उपर्युक्त सातोंको धारण करनेकी चेष्टा करें। खुशामदकी बात दूसरी है; पर सच बात तो यह है कि रास्ता तय करना हो तो फिर ये काम अवश्य कीजिये। मेरा तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, मैं आपसे जो बातें कहूँगा, उनसे मेरा तो लाभ ही होगा। पर आपका रास्ता मेरी समझसे तो तभी तय होगा, जब आप कमर कसकर चलनेके लिये तैयार हो जायँगे।

धन, स्त्री, शरीरका अभिमान रत्ती-रत्ती चूर हुए बिना रास्ता नहीं कटेगा। खूब तेजीसे चलिये, नहीं तो मर जाइयेगा। मरते समय चित्तकी वृत्ति जहाँ रहेगी, वहीं आप चले जायँगे। मकान, रुपया, धन, परिवार, मान-बड़ाई—सब-के-सब या तो आपको पहले ही छोड़ देंगे या आप इनको छोड़कर चले जायँगे। विष्ठा-मूत्रसे भरा हुआ यह शरीर मिट्टीमें मिल जायगा। इसे जानवर खा जायँगे तो यह विष्ठा बन जायगा। जलाया जायगा तो इनकी राख हो जायगी और गाड़ दिया गया तो सड़कर कीड़ोंके रूपमें परिणत हो जायगा। इसके आरामकी तथा विलासकी चिन्ता छोड़िये।

ये बातें केवल सुननेकी नहीं हैं, करनेसे होगा, बड़ी तत्परतासे करनेपर होगा। नहीं तो सुनते रहिये—न शान्ति मिलेगी, न दुःख मिटेगा। प्रेम तो कहाँसे मिलेगा!

आप नित्य ये सब बात सुनते हैं, फिर भी आपकी रुपये एवं परिवारकी ममता तथा अभिमान नहीं मिटते। इसका अर्थ यह है कि

अभी आप रास्तेपर चलनेके लिये तैयार नहीं है। यदि प्रत्येक बार आप मनको दण्ड देने लगें तो फिर यह मन सीधा हो जाय।

२७—असल बात है—सच्ची तीव्र-से-तीव्र लालसाका होना। यह हुई कि उसी क्षण सारा नकशा पलट जायगा। अभी चाह है, पर मन्द-से-मन्द है। जितनी परवा संसारकी वस्तुओंके लिये है, उतनी भी नहीं है। आप कुछ भी करें—देखें, श्रीकृष्णसे छिपा तो है नहीं; वे सर्वान्तर्यामी है, सर्वसमर्थ है और उनमें अपार करुणा भी है। फिर आप उनके सामने रोते क्यों नहीं, रोना क्यों नहीं आता ?……का लड़का बीमार था। मनमें कितनी व्याकुलता थी, रात-दिन मस्तिष्कमें एक ही बात थी। 'हे राम ! लड़का ठीक हो जाय।' रोना सीखना नहीं पड़ता था। अपने-आप रोना आता था। जिस दिन जीवन श्रीकृष्णप्रेमके बिना सूना दीखेगा, उनका वियोग असह्य हो जायगा, उस दिन रोना स्वयं अपने आने लग जायगा। वैसी लालसा ही नहीं है। इसीलिये न तो रोना आता है और न उतनी परवा ही होती है। बिलकुल ठीक मानिये—घर, धन, परिवार, पुत्र—सभी फिर इतने फीके लगने लगेंगे कि मानो इससे कैसे हमारा पिण्ड छूट जाय। पर अभी तो आप स्वयं इच्छा करके मन चलाकर इनको पकड़ते हैं। इसका अर्थ यही है कि आपको उनकी लालसा नहीं है; और जब लालसा ही नहीं है, तब फिर कहाँसे लायें ? मोल तो वह मिलती नहीं। इसके लिये संतलोग अपने अनुभवसे यह कहते हैं कि 'मलिन अन्तःकरणमें यह लालसा उत्पन्न ही नहीं होती।' हमारा अन्तःकरण मलिन है, इसीलिये यह लालसा उत्पन्न नहीं हो रही है। जिस क्षण यह लालसा उत्पन्न हुई कि उसी क्षण भगवान्‌में भी लालसा उत्पन्न हो जायगी। अतः अन्तःकरणको निर्मल बनानेकी चेष्टा ही कर्तव्य होता है, पर हमारा अन्तःकरण

निर्मल हो, यह लालसा भी तीव्र नहीं है; क्योंकि उसके जो उपाय हैं, उनका आचरण जब हमसे नहीं होता, तब कैसे कहा जाय कि हम चाहते हैं कि हमारा अन्तःकरण निर्मल हो। फिर भी संतलोग तथा शास्त्र कहते हैं कि 'घबराओ मत। यदि एक बार भी भगवान्‌की ओर झूठी-मूठी प्रवृत्ति भी तुम्हारी हो गयी है तो फिर तुम भले ही भगवान्‌को छोड़ दो, भगवान् तुम्हारा पिण्ड नहीं छोड़ेंगे।'

आपको विश्वास करा देना तो कठिन है, पर एक बिलकुल सच्ची बात आपको बतला रहा हूँ। बहुत ही मर्मकी बात है कि कैसे एक नाम लेनेसे ही मनुष्य तर जाता है। भगवान्‌में नाम-नामी, देह-देहीका भेद नहीं है। जो इस बातको मान लेता है, उसको समझानेका तरीका तो दूसरा है; पर जो यह नहीं मानता, उसके लिये दूसरा तरीका है। अवश्य ही उसे शास्त्र एवं भगवद्वचनोंपर कुछ-न-कुछ विश्वास तो होना ही चाहिये। नहीं तो, फिर नास्तिकको समझाना तो बड़ा ही कठिन है। भगवान् कहते हैं—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

अब इसके अनेक अर्थ होते हैं। एक यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि 'जो मेरा नाम निरन्तर लेगा, उसका नाम मैं निरन्तर लूँगा।' अच्छी बात है—नाथ! मुझसे निरन्तर नाम नहीं लिया जाता, मैंने जीवनभरमें एक बार आपका नाम लिया है तो एक बार बदलेमें आपने मेरा नाम लिया होगा। अब यदि यह प्रश्न होता है कि तुमने मनसे नहीं लिया था। वाणीसे यों ही निकल गया था तो ठीक है, आपने भी बदलेमें एक बार वाणीसे ही मेरा नाम लिया होगा, पर नाथ! आपमें मेरी तरह वाणी और मनका भेद तो है नहीं। (भगवान्‌की वाणी और मन एक है) आप मेरे नाम लेनेके बदलेमें

केवल वाणीसे भी मेरा नाम लेते हैं, तो मेरा निश्चय उद्धार हो गया।

अब असल बात भी यही है। जिस क्षण एक नाम निकलता है, उसी क्षण भगवान्‌की सारी कृपा उसपर प्रकट होनेके लिये विधान बन जाता है, परंतु वह कृपा जबतक प्रकट नहीं होती, तबतक इधर-उधर भटकना जारी रहता है। यदि किसी प्रकार सच्चे हृदयसे अत्यन्त कातर प्रार्थना भगवान् या किसी सच्चे संतके प्रति हो जाय तो उसी क्षण इस बातपर उसे विश्वास हो जाता है और उसकी सारी अशान्ति मिट जाती है, परंतु यह प्रार्थना होती नहीं। हो तो, देखियेगा—सचमुच भगवान् इतने करुणामय हैं, उनका हृदय इतनी जल्दी पिघल जाता है कि जगत्‌में उसकी तुलना ही असम्भव है। जो चाहियेगा, जैसे चाहियेगा वही उसी प्रकार वे कर सकते हैं। यह नियम केवल लौकिक बातोंमें ही नहीं, परमार्थमें भी यही नियम है। मान लें कि आप प्रार्थना करें कि 'हे भगवन्! मुझे धन दो, मान दो।' इस प्रार्थनाको वे जैसे जल्दी-से-जल्दी सुन सकते हैं; पूरी कर सकते हैं, वैसे ही उतनी ही जल्दीसे 'हे भगवन्! मेरा आपमें दृढ़ विश्वास हो जाय, आपमें मेरा प्रेम हो जाय' इस प्रार्थनाको भी सुन सकते हैं, पूरी कर सकते हैं। पर धनके माँगनेके समय तो आपका हृदय ठीक-ठीक उस धनको भीतरी हृदयसे माँगता है, और विश्वास, प्रेम माँगते समय ऊपरी मनसे नित्य-नियम पूरा करता है। पूजापर बैठकर यह भी एक नियम है—कर लेते हैं; पर सचमुच वह व्याकुलता नहीं होती।……के लड़केकी बीमारीको लेकर जैसी व्याकुलता थी, क्या उन लोगोंमें कोई भी उतना ही व्याकुल होकर यह चाहते हैं कि 'हमारा मन भगवान्‌में लगे, भगवान्‌पर हमारा विश्वास हो।' विश्वासकी अपेक्षा भी हृदयकी व्याकुलताकी अधिक आवश्यकता है; क्योंकि व्याकुलता विश्वास करा

देगी। अब उस लड़केकी बीमारीमें जो आदमी जो उपाय बतलाता था, वही वे करते थे। विचार भी नहीं रहा था कि 'यह ठीक कहता है या झूठ। ऐसा इसीलिये था कि व्याकुलता थी।' उसी प्रकार जिस दिन आप सच्चे मनसे चाहने लगेंगे, व्याकुल हो जायँगे कि हमारी साधनाकी ऐसी स्थिति एक घंटा ही रहकर क्यों छूट जाती है, क्यों नहीं निरन्तर बनी रहती है, उसी दिन, उसी क्षण भगवान् सुन लेंगे। अभी आपको यह सहन हो रहा है कि स्मरण छूट गया तो क्या हुआ। दिनभर मौजसे रहे, भोजन किया साँझको यहाँ आ गये, बातें कर रहे हैं। पर जब व्याकुलता होगी तब पागलकी-सी अवस्था होकर स्मरणकी स्थिति छूटते ही उसी क्षण, वहींपर लाज-शरम छोड़कर आप रोने लगियेगा और जबतक वह पुनः स्थिति नहीं हो जायगी, तबतक आपका रोना बंद नहीं होगा।

जो हो, ऐसी सच्ची व्याकुलताका उपाय यही है जो आप कर रहे हैं। निरन्तर अपनी जानमें यही चेष्टा रखें कि नाम-लीला-गुण-रूप सुनें, पढ़ें, कहें, स्मरण रखें। करते-करते जैसे-जैसे अन्तःकरण पवित्र होगा, वैसे-वैसे, व्याकुलता उत्पन्न होनेकी, सच्ची लालसा उत्पन्न होनेकी भूमि तैयार होती जायगी। जिस दिन पूर्ण-रूपसे वह भूमि तैयार हो गयी कि कोई सच्चा संत या स्वयं भगवान् उसमें प्रेमका बीज बो देंगे। फिर वह उगेगा, बढ़ेगा, फूलेगा, फलेगा और निरन्तर फूलता-फलता ही रहेगा, उसका कभी फूलना-फलना बंद नहीं होगा।

२८—इस कलममें भगवान् हैं और जहाँ भगवान् हैं, वहीं आजतक जितनी लीला हुई है, हो रही है, होगी, सब-की-सब मौजूद है। आप जिस लीलाको देखना चाहें, जिस रूपको देखना चाहें, उसी रूपमें, उस लीलाके साथ इसी कलमसे भगवान् प्रकट हो सकते हैं।

यह बात नहीं है कि भगवान्‌के यहाँ भूतकाल, वर्तमानकाल, भविष्य-काल हो। वहाँ तो सब वर्तमानकाल ही है। अर्थात् जैसे पाँच हजार वर्ष पहले वृन्दावनमें लीला हुई थी तो इसका यह मतलब नहीं कि वह लीला तो भूतकालकी है। इसका अर्थ यह है कि आजसे पाँच हजार वर्ष पहले वृन्दावनकी लीलावाला फिल्म लोगोंके सामने आया था। वह फिल्म तो आज भी ज्यों-का-त्यों है, केवल छिप गया है। सिनेमा देखते हैं, वह आरम्भसे लेकर अन्ततकका खेल सजाया हुआ होता है। उसी प्रकार भगवान्‌के विराट् दिव्य शरीरमें अनादिकालसे लेकर अनन्तकालतक होनेवाली सभी लीलाएँ सजायी हुई हैं। जो जैसा अधिकारी होता है, उसके सामने उसके अधिकारभरकी लीला आती है, फिर रील घूम जाता है। अर्जुनने चाहा विश्वरूप देखना, उसके सामने उसके अधिकारभरका आया।

२९—चाह सच्ची होनी चाहिये। फिर तो पहले-से-पहले भगवान् मामूली-से-मामूली बात भी करके रख देते हैं। मनमें विचार तो पीछे आयेगा, पर भगवान् जानते हैं कि यह उस दिन उस समय यह चीज चाहेगा तथा पहलेसे ही उसकी पूरी व्यवस्था करके रख देते हैं। एक मामूली-सी बात बतला रहा हूँ—मैं×× था, दिनमें किसी कारणसे भोजन कम किया था, इसीलिये जोरसे भूख लग रही थी। मनमें बार-बार भूखका खयाल आता था। मनमें आया कहींसे कोई वृन्दावनका प्रसाद लाकर देता तो थोड़ा खा लेता—तीव्र इच्छा थी। वहाँसे सत्संगमें आया। आते ही एक आदमीने वृन्दावनका प्रसाद देना आरम्भ किया। मैं तो चकित रह गया! क्योंकि मेरे पेटकी बात किसीको मालूम थी ही नहीं। सुना कि × × × × आये हैं और प्रसाद ले आये हैं।

३०—व्रजके मधुर भावके वास्तविक अधिकारी बहुत कम ही होते हैं। जिसके लिये गीता कही गयी, जिस गीताके जोड़का ग्रन्थ मिलना कठिन है, उसी अर्जुनने एक बार भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की—'प्रभो ! आप गोपसुन्दरियोंके साथ होनेवाली अपनी लीलाकी बात हमें बतायें।' भगवान् नट गये और बोले—'उसे सुनकर तुम्हें देखनेकी इच्छा हो जायगी, इसीलिये इस बातको जाने दो।' अर्जुन व्याकुल होकर चरणोंमें गिर पड़े। इसपर श्रीकृष्णने कहा—'उसके लिये तो साधना करनी पड़ेगी, तुम्हें त्रिपुरसुन्दरीकी उपासना करनी पड़ेगी। वे यदि प्रसन्न होकर तुम्हें दिखाना चाहेंगी, तभी देख सकते हो। दूसरा उपाय नहीं।' कथा पद्मपुराणमें विस्तारसे है—अर्जुन गये हैं वहाँ देवीने स्पष्ट कहा है कि 'अर्जुन ! जो भक्त श्रीकृष्णको प्राणके समान प्यारे हैं, उनमें भी सबको इस लीलाके दर्शन नहीं होते। कोई-कोई विरले ऐसे भक्त होते हैं, जिनपर श्रीकृष्ण यह कृपा कर देते हैं। तुम धन्य हो, जो तुमपर उन्होंने कृपा की है और उस लीलाके दर्शनके लिये तुम्हें मेरे पास भेजा है।' इसके बाद अर्जुनने बड़ी-बड़ी साधना, जैसे देवीने बतायी, की है और फिर जब वे गोपी बन गये हैं, तब श्रीराधाजी आकर उन्हें श्रीकृष्णके उस परम दिव्य धाममें जिससे परे और कुछ भी नहीं है, ले गयी हैं और वहाँका आनन्द पाकर अर्जुन कृतार्थ हुए हैं। जो अर्जुन दिन-रात भगवान्‌के साथ खाते-पीते, बैठते थे, जिन्हें गीताका ज्ञान हो गया था, उनकी यह हालत है। हमारे-जैसे तुच्छ पामर प्राणी तो इस लीलाके कहनेके भी अधिकारी नहीं हैं।

३१—एक रत्नावती देवी थी। वह आम्बेर (जयपुर) की रानी थी, उसको मारनेके लिये सिंह छोड़ा गया। सिंह महलमें गया, वह ध्यानस्थ बैठी थी। सिंह पहुँचा। वह बोली—'आइये, प्रह्लादके

भगवान्! बड़ी कृपा की।' थाल लिया, प्रसाद सजाया, आरती सजायी। सिंह चुपचाप पूजा ग्रहण करता रहा। धूप, दीप, नैवेद्यसे पूजा करके एवं विधिपूर्वक आरती उतारकर रत्नावतीने प्रणाम किया। फिर सिंह वहाँसे उछला तथा पिंजरेमें घुसनेसे पहले दो-तीन पहरेदारोंको खा गया। सिंह तो एक ही था, पर उसने रत्नावतीकी पूजा स्वीकार की और पहरेदारोंको मार डाला। ऐसा क्यों? ऐसा इसलिये कि रत्नावतीका तो सच्चा भगवद्भाव था और पहरेदार सिंहको सिंह मान रहे थे। ऐसे ही प्रत्येक चोर, बदमाश, डाकू भी भगवान् बन सकता है। लाला बलदेवसिंह नामके एक सज्जन देहरादूनमें थे, उनको मरे कई वर्ष हो गये। भगवान्‌के बड़े भक्त थे, असली भक्त थे। बहुत रुपयेवाले थे। एक दिन डाकुओंने नोटिस दी कि 'आज रात्रिको हमलोग लूटने आयेंगे। आप तैयार हो जाइये।' यही नोटिस उनके भतीजेको भी मिली। भतीजे तो पुलिस सुपरिंटेंडेंटके पास गये तथा बलदेवसिंहने रसोइयोंको कहा कि 'खूब बढ़िया-बढ़िया माल बनाओ। आज भगवान्‌के पधारनेकी बात है।' भतीजेसाहब आये। बोले—चाचाजी! क्या इन्तजाम किया? बलदेवसिंहजीने कहा—'खूब बढ़िया-बढ़िया रसोई बनवा रहे हैं उनके स्वागतके लिये।' भतीजेसाहब तो पागल समझकर चले गये। उनके घरपर पुलिसका पहरा बैठा और बलदेवसिंह सचमुच बहुत बढ़िया-बढ़िया बहुत-से आदमियोंको खानेभरकी बहुत-सी रसोई बनवाकर रातभर प्रतीक्षा करते रहे कि अब आये, तब आये। स्वयं भी नहीं खाया। आखिर कुछ हुआ नहीं, पर यदि होता भी तो उनके घर तो डाकू नहीं आते, भगवान् ही आते।

३२—भगवत्प्राप्ति बहुत ऊँचे दर्जेकी चीज है। बाघ, सिंह, हिरन, बकरीको साथ बैठा देनेसे यह नहीं माना जा सकता कि ऐसा

कर देनेवाले भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुष हैं, क्योंकि ये बातें तो बहुत ही तुच्छ एवं नीचे दर्जेकी ही हैं। सर्कसवाले भी पशुओंको शिक्षण देकर वशमें कर लेते हैं। भगवत्प्राप्ति असलमें क्या चीज है, इसे भगवत्प्राप्त पुरुष ही जानते हैं। साधारण संसारी मनुष्य तो देखता है कि किसमें क्या चमत्कार है, पर चमत्कार होना भगवत्प्राप्तिका लक्षण नहीं है। दक्षिणमें एक संत हुए थे ज्ञानदेवजी। उन्हींके समय एक योगी थे चाँगदेव। वे सिंहपर सवारी करते थे। १४०० वर्षकी उनकी आयु थी। प्रत्येक १०० वर्षपर जब मृत्युका समय आता, तब योगबलसे समाधिमें बैठ जाते और फिर १०० वर्षके लिये नया जीवन बना लेते। इतनी शक्ति थी! ज्ञानदेवजी दो भाई थे तथा एक उनके बहन थी, सभी भगवत्प्राप्त पुरुष थे। चाँगदेवके पास उनकी खबर पहुँची, बहुत लोग उनकी प्रशंसा करते। चाँगदेवजीको अभिमान था। सिंहपर चढ़कर मिलने चले। लोग तो बाहरको देखते हैं। बाप रे! कितना बड़ा महात्मा है कि सिंहपर सवारी करता है। लोगोंने कहा—'ज्ञानदेवजी महाराज! एक बहुत बड़े महात्मा आपसे मिलने आ रहे हैं, आप चलिये।' ज्ञानदेवजीके मनमें आया कि 'अच्छा, देखो।' उस समय तीनों भाई-बहन एक टूटी हुई दीवालपर बैठे थे, भगवत्-चर्चा हो रही थी। जब लोगोंने बहुत कहा—'महाराज! बहुत भारी महात्मा आ रहे हैं, अगवानीके लिये चले चलिये।' तब ज्ञानदेवजीने कहा—'ठीक है।' फिर दीवालसे बोले—'री दीवाल! तू चल।' कहनेकी देर थी कि वह दीवाल जमीनसे उखड़कर चल पड़ी। चाँपदेवने देखा—'बाप रे! आजतक योगके द्वारा मैं चेतन प्राणीको ही वशमें करके इच्छानुसार नचा सकता था, पर यह तो जड़पर शासन करता है।' उसी क्षण अभिमान टूट गया और चरणोंमें जा गिरे।

उसी समय ६४ (अभंग) छन्दोंमें उन्हें ज्ञानदेवजीने उपदेश दिया तथा रामनामकी महिमा बतायी कि भगवान्‌के नामके सामने ये सभी बातें तुच्छ हैं। फिर उनकी छोटी बहिनने उन्हें दीक्षा दी, तब उन्हें भगवान्‌की प्राप्ति हुई।

असली संतोंकी पहचान किसी बाहरी चेष्टासे नहीं हो सकती। एक साँईबाबा थे (उनको लोग रजाई ओढ़ा देते। साथमें कुत्ता आता, वे रजाईसे खिसकते-खिसकते बाहर हो जाते। अब इस चेष्टासे ही किसीको भगवत्प्राप्त मान लेना नहीं बनता। साँईबाबाकी बात नहीं है। उनके विषयमें तो एक विश्वस्त सूत्रसे मैंने सुना है कि वे भगवत्प्राप्त पुरुष थे। यद्यपि मैं निश्चयपूर्वक कुछ नहीं जानता। पर ऐसी चेष्टा देखकर किसीको भगवत्प्राप्त मान लेना भूल है।) संतका असली स्वरूप इससे अत्यन्त विलक्षण है। वृन्दावनमें ग्वारियाबाबा थे, कुछ ही वर्ष पहले शरीर छूटा है, उनका विचित्र ढंग था। वे अपनेको श्यामसुन्दरका सखा मानते थे और सचमुच थे भी। उनकी विचित्र-विचित्र बातें आती हैं। दिनभर, पता नहीं, कहाँ-कहाँ घूमते रहते थे। एक दिन रास्तेमें पड़े थे। रात्रिका समय था। कई चोर उस रास्तेमें जा रहे थे। चोरोंने पूछा—'कौन हो?' वे बोले—'तुम कौन हो?' उन सबने कहा—'हम तो चोर हैं।' इन्होंने कहा—'हम भी चोर हैं।' उन्होंने कहा—'चलो, तब चोरी करें।' इन्होंने कहा—'चलो।' सब एक व्रजवासीके घरमें चोरी करने घुसे। वे सब तो चोर थे ही, उन सबने सामान बाँधना आरम्भ किया। ये कुछ देर तो खड़े रहे। फिर वहीं एक ढोलक पड़ी थी। उसे लगे जोरसे ढम-ढमा-ढम बजाने। घरके आदमी जाग गये। वे सब तो भागे, पर ये ढोलक बजाते रहे। घरवालोंने आकर चार-पाँच डंडे बाबाको लगाये।

अन्धकार था। रोशनी जलायी तो देखा कि ग्वारियाबाबा हैं। उन सबको बड़ा दुःख हुआ कि महात्माको डंडे मार दिये। पूछा—'बाबा ! तुम कैसे आये ?' बोले—'चोरी करबे ताँई आये।' उन सबने पूछा—'और कौन-कौन हते ?' बोले—'श्यामसुन्दरके सखा सब हते।' अब देखिये, इन लोगोंकी कैसी चेष्टाएँ होती हैं।

ग्वारियाबाबा मरनेके कुछ दिन पहले बोले—'अब नोटिस आय गयी है, अब नहीं रहूँगो।' मरनेके दो दिन बाद वहाँसे कुछ दूर एक भक्त था, उसके यहाँ गये और दूध पीया। बाबाका एक भक्त था, बड़ा बीमार था। रोने लगा कि 'बाबा, या तो अच्छा कर दो या अब पासमें बुला लो। स्वप्नमें आये। मरनेके दूसरे दिनकी यह बात है। उससे कहा—'रोते क्यों हो ? चल, हमारा उत्सव मनाया जा रहा है; देख।' फिर स्वप्नमें ही उसे ले गये। जो-जो था, दिखलाया। फिर कहा—'अमुक दिन तुम्हें ले जायँगे।' नींद खुलनेपर उसने जाँच की। ठीक-ठीक जैसे उत्सव हुआ था, वैसे ही उसने स्वप्नमें देखा था और फिर उसी बतायी हुई तिथिको मर गया।

उनकी ऐसी-ऐसी विलक्षण बातें हैं कि सबका समझना कठिन हो जाता है। पर वे थे सचमुच श्यामसुन्दरके सखा। सच्चे महात्मा थे। उनकी कई चेष्टाओंका कुछ भी अर्थ नहीं लगता था। दो महीने मरनेके पहले हाथोंमें हथकड़ी डालकर घूमते रहते थे कि श्यामसुन्दरने कैद कर दिया है। बड़े भारी संगीतज्ञ थे। कहनेका सारांश यह है कि बाहरी चेष्टा भगवत्प्राप्तिका प्रमाण नहीं बन सकती। बहुत ऊँची चेष्टा करनेवालेमें भी त्रुटि रह सकती है तथा कोई बावला-सा नगण्य व्यक्ति भी बहुत बड़ा महात्मा हो सकता है।

व्रजके प्रेमी संतोंका जीवन सुननेपर तो ऐसा मालूम होगा कि कोई

रोते हैं, कोई हँसते हैं, कोई पागल हैं। कितनोंमें बाहरसे कुछ भी प्रेमके लक्षण नहीं दीखते, पर उनके भीतर श्रीकृष्ण-प्रेमका अनन्त सागर लहराता रहता है। इन प्रेमी संतोंकी पहचान बाहरसे हो ही नहीं सकती।

३३—व्रजजीवन कुछ इतना पवित्रतम जीवन है कि उसका कण ही यदि किसीको कल्पनामें आ जाय तो फिर सांसारिक भोगोंकी तो बात ही क्या, ऊँची-से-ऊँची मर्यादाकी पारमार्थिक स्थितियोंसे भी वह सर्वथा उपरत हो जाता है। परंतु यह करनेसे नहीं होता, यह तो भजनके फलस्वरूप—भगवत्कृपाके प्रभावसे किसी भाग्यवान् साधकमें प्रकट होता है। निरन्तर गुण-लीलाका श्रवण करते-करते, नाम लेते-लेते उस कृपाका प्रकाश होकर किसी-किसी भाग्यवान्‌के अनर्थकी जब पूर्णतया निवृत्ति हो जाती है, तब व्रजप्रेमकी साधना वस्तुतः आरम्भ होती है। उसके पहलेकी साधना तो जबरदस्ती होती है, रुचिपूर्वक नहीं; पर जबर्दस्ती करना भी बड़ा उत्तम है। किसी तरह भी चलनेवालेका रास्ता तो कटता ही है।

३४—श्रीकृष्ण इतने सुन्दर हैं कि कहीं एक बार वे कृपा करके स्वप्नमें भी किसीको एक अपनी हलकी-सी झाँकी दिखा दें तो अनन्त जन्मोंकी आसक्ति उसी क्षण मिटकर वह उस रूपके पीछे पागल हो जाय; पर वे किसीके वशमें तो हैं नहीं ? शास्त्रमें एक श्लोक है, जिसमें यह कहा गया है कि श्रीकृष्ण कितने स्वतन्त्र हैं। कालियनागके फणपर तो नाचते हैं और उनके चरणोंके दर्शनके लिये बड़े-बड़े योगी बेचारे अनन्त जन्मोंसे बाट देखते हैं, पर वे सामने नहीं आते। वे श्रीकृष्ण बड़े ही मौजी हैं। एक अनुभवी भक्त कहते हैं—

गोपालाङ्गणकर्दमेषु विहरन् विप्राध्वरे लज्जसे
ब्रूषे गोकुलहुंकृतैः स्तुतिशतैर्मौनं विधत्से सताम्।

दास्यं गोकुलपुंश्चलीषु कुरुषे स्वाम्यं न दान्तात्मसु
ज्ञातं कृष्ण तवाङ्घ्रिपङ्कजयुगं प्रेमैकलभ्यं मुहुः ॥

'श्रीकृष्ण! तुम ग्वालोंके आँगनकी कीचड़में लोटते हो, पर विप्रवरोंके यज्ञोंमें जाते हुए लजाते हो; गौ-बछड़ोंके हुंकारका उत्तर देते हो, पर सत्पुरुषोंकी सैकड़ों स्तुतियाँ सुनकर भी मौन धारण किये रहते हो, गोकुलकी पुंश्चलियोंकी दासता करते हो, पर जितेन्द्रिय पुरुषोंके चाहनेपर भी उनके स्वामी नहीं बनते। इससे यह पता लग गया कि तुम्हारे चरण-पङ्कज-युगल केवल प्रेमसे ही प्राप्त हो सकते हैं।' तात्पर्य यह है कि परम—असीम सुन्दर होकर भी वे परम स्वतन्त्र हैं। उनकी हलकी-सी झाँकी भी स्वप्नमें वही कर सकता है, जिसे वे कराना चाहें। खेलना उनका स्वभाव है। उनका खेल भी विचित्र है। राजाको रङ्क, रङ्कको राजा; पापीको संत, संतको पापी; श्मशानको महल, महलको श्मशान—ऐसी ही विचित्र लीला वे करते हैं। किस क्षण, किसके जीवनमें क्या होगा, यह किसको पता? पर भक्तको डरनेकी आवश्यकता नहीं है। उसे तो उनकी ओर आशा लगाकर भजन करते रहना चाहिये। एक श्लोक है—

प्रतिज्ञा तव गोविन्द न मे भक्तः प्रणश्यति।
इति संस्मृत्य संस्मृत्य प्राणान् संधारयाम्यहम् ॥

'गोविन्द! आपकी यह प्रतिज्ञा है कि मेरे भक्तका पतन नहीं होता। मैं इसी बातको याद कर-करके प्राणोंको धारण कर रहा हूँ।'

३५—यही श्रीकृष्ण हैं। अणु-अणुमें श्रीकृष्ण हैं और जहाँ हैं, अपनी सम्पूर्ण शक्ति, समग्र ऐश्वर्यको लेकर ही वर्तमान हैं। अब यदि हमारा इस बातपर विश्वास हो जाय तो हम दूसरेका मुँह फिर क्यों ताकें। किसीकी भी सहायताकी आवश्यकता नहीं। आजतक जितने

भी संत हुए हैं, हैं और होंगे—सब उनके अंदर हैं, सब उन श्रीकृष्णके अंदर ही हैं जो अणु-अणुमें स्थित हैं। यहाँतक कि हम जिस मनसे सोचते हैं, उस हमारे मनमें ही वे स्थित हैं। पर हमारा विश्वास नहीं, तब क्या हो? यह घड़ी है, इसी घड़ीके अणु-अणुमें श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण ही घड़ी बने हुए हैं। यदि विश्वास हो, ठीक-ठीक संशयहीन विश्वास हो तो यहीं इस घड़ीमें ही वे प्रकट हो जायँ और आपसे बातें करने लग जायँ। समस्त वृन्दावनकी लीला आप यहीं इस घड़ीके स्थानपर ही देख सकते हैं। प्रह्लादका निश्चय था—खंभेमें भगवान् हैं, खंभा-जैसे जड पदार्थमें भी वह ठीक-ठीक भगवान्‌को देखता था। इसलिये भगवान् वहीं प्रकट हो गये नृसिंहरूपमें, इसलिये कि उन्हें हिरण्यकशिपुको मारना था। पर कोई चाहे कि श्रीकृष्णरूपमें ही प्रकट हों तो श्रीकृष्णरूपसे खंभेमें प्रकट होंगे और पूछेंगे—'प्यारे! बोलो क्या चाहते हो?' आप खूब मजेमें कह सकते हैं—'हमें व्रजकी लीलाके दर्शन कराइये।' और उसी क्षण ये चाहें तो दिखा सकते हैं। अर्जुनने प्रार्थना की—'नाथ! मैं आपका विश्वरूप देखना चाहता हूँ, तो ठीक है, देखो।' वहीं रथपर सारथिके रूपमें जो श्रीकृष्ण थे, उन्हींके शरीरमें विश्वरूप दीखने लग गया, सारथि ही बदल गया। यदि अर्जुनके मनमें प्रेममयी लीला देखनेकी इच्छा होती तो भगवान् उन्हें वहीं उसी क्षण प्रेममयी लीला भी दिखा सकते थे। यह ठीक है कि बहुत भारी कड़ी साधनासे प्रेममयी लीलाके दर्शन होते हैं, पर साधनाका बन्धन साधकके लिये है, न कि श्रीकृष्णके लिये। वे चाहें तो बिना किसी भी साधनाके उसी क्षण लीला दिखा दें। साधना श्रीकृष्ण ही करवाते हैं; पर यह बन्धन नहीं कि साधना होगी, तभी दर्शन होगा? वे जो चाहें, वही नियम बन सकता है।

बस, विश्वास होना चाहिये—यहाँ श्रीकृष्ण हैं। बस, इतना ही। फिर हाथ जोड़कर कभी बात करें, कभी प्रार्थना करें, कभी रोयें, कभी खीझें। उनसे कहें—क्यों प्रभो ! केवल गीतामें कहते ही हो कि वैसी बात भी है ? तुमने ही तो कहा है कि मेरे लिये सब समान हैं, तो मैं भी तुम्हारे लिये सबके समान ही हूँ; फिर मुझे क्यों नहीं स्वीकार करते ? यदि कहो कि तुम चाहते नहीं तो तुम्हीं बताओ मैं क्यों नहीं चाहता ? मेरे अंदर चाह उत्पन्न करो। नाथ ! यह तो जानते ही हो, तुमसे छिपा नहीं है कि मैं सुख चाहता हूँ, दुःख कदापि नहीं चाहता, भीतरी मनसे सुख चाहता हूँ। यदि तुम कहो कि फिर मुझे भजो, मुझमें ही सुख है और कहीं भी सुख नहीं है तो बताओ, मेरे मनमें तुम्हारी इस बातपर विश्वास क्यों नहीं होता ? क्यों मैं विषयोंका भजन करता हूँ ? तुम्हीं आकर एक बार बता जाओ—बस, एक बार ही सामने आकर बता जाओ, फिर चले जाना। तुम कहोगे कि मैं तो उसके सामने आता हूँ जो मेरे लिये अत्यन्त व्याकुल होता है तो फिर मेरे अंदर वही व्याकुलता उत्पन्न कर दो। यदि कहो कि तुम यह भी नहीं चाहते कि मेरे अंदर व्याकुलता उत्पन्न हो तो तुम्हीं बताओ, मैं ऐसा क्यों नहीं चाहता ? इस प्रकार बातें कीजिये। पर यह तभी होगा जब आपका यह विश्वास हो कि श्रीकृष्ण यहाँ हैं, अवश्य हैं। विश्वासके लिये भी उपाय है—बार-बार कहें कि 'मेरे नाथ ! मुझे क्यों विश्वास नहीं होता कि तुम यहाँ हो, तुम्हीं बताओ। मैं कहाँसे विश्वास लाऊँ ? मैं दुःख चाहता नहीं; सुख चाहता हूँ—इसमें तनिक भी झूठ नहीं। तुम भी कहते हो—सुख मिलेगा मुझपर विश्वास करनेसे; तो फिर तुमपर मेरा विश्वास क्यों नहीं होता ? क्या मैं तुम्हारे लिये दूसरा हूँ ?'

३६—ऊँचे प्रेमका एक उदाहरण है—पतिव्रता स्त्री। पति

परदेशमें है। अब मन नहीं लगता, तो वह मन नहीं लगनेपर एकान्तमें बैठकर रोने लग जायगी; पर उसके मनमें यह नहीं आ सकता कि 'चलें, बाहर घूम-फिरकर मन लगायें।' इसी प्रकार भक्तका मन न लगनेपर वह एकान्तमें बैठकर भगवान्‌को याद करके रोने लगता है, रोकर ही मन शान्त करता है; उसके मनमें यह नहीं आता कि चलो चार दोस्तोंमें बैठकर जगत्‌की—विषयोंकी चर्चा करके मन बहला लें। यहाँका पति अल्पज्ञ है, पर श्रीकृष्ण सर्वज्ञ हैं और जहाँ भक्त रो रहा है, वहीं वे अणु-अणुमें छिपे हुए हैं। उसका रोना उनमें करुणाका संचार कर देता है और उनको यह व्यवस्था करनी पड़ती है कि जबतक मैं नहीं मिलता, तबतक इसका मन थोड़ा-बहुत लगा रहे। जैसे स्त्रीको पतिका संदेश सुननेपर बड़ी शान्ति मिलती है, वैसे ही भक्तको भगवद्गुणानुवाद तथा आश्वासनकी बातें अर्थात् 'वे मिलेंगे, निश्चय मिलेंगे' सुनकर शान्ति मिलती है। इसीलिये ऐसे भक्तके लिये भगवान् संतपुरुषोंको सङ्ग देते हैं। संत दूत हैं, वहाँ उनसे मिलकर सारी बातें लाते हैं और भक्तको संतोष कराते हैं।

३७— × × × ने उस दिन बहुत ही मर्मकी बात कही थी—एक विषयोंके लिये रोता है और एक भगवान्‌के लिये रोता है। जो विषयोंके लिये रोता है, उसके तो आदि-मध्य-अन्तमें दुःख-ही-दुःख हैं; क्योंकि विषयोंमें दुःख-ही-दुःख है। और जो भगवान्‌के लिये रोता है, उसके आदि-मध्य-अन्तमें सुख-ही-सुख है; क्योंकि भगवान्‌में सुख-ही-सुख है। विषयीका मन रोते समय विषयमें तदाकार होता है। इसका अर्थ है कि उसका मन दुःखमें तदाकार होता है और भगवान्‌के लिये विरहमें रोनेवालेका मन भगवान्‌में तदाकार होता है। इसका अर्थ यह है कि उसका मन आत्यन्तिक सुखसे तदाकार हो रहा है।

३८—एक बात विचारिये। भोले-भाले बच्चे एवं सुन्दरी स्त्री और आँखें जाती है। पर विचारकर देखिये—इनके शरीरके भीतर क्या है? हाड़, मांस, मल, मूत्र—गंदी-से-गंदी चीजें भरी हैं। फिर भी भ्रम हो जाता है और आँखें बरबस चली जाती हैं तथा मन भी यह कहता है कि देखो कैसे सुन्दर हैं।' अब सोचिये कि यह भ्रम क्यों होता है? इनमें आंशिक रूपसे श्रीकृष्ण मौजूद हैं और वे हैं, इसलिये यह भ्रम हो जाता है कि यह सुन्दर है फिर भला, स्वयं श्रीकृष्ण जिस समय नटवरनागर मुरलीधरके रूपमें किसीके सामने आ जाते होंगे, उसकी क्या दशा होती होगी। जिनकी एक चमकमात्रसे ऐसा भ्रम हो जाता है कि हाड़, मांस, मल, मूत्रका थैला इतना सुन्दर प्रतीत होने लगता है, फिर जब वे ही स्वयं निजरूपसे जिस समय दर्शन देते होंगे, उस समयकी दशा कितनी विचित्र होती होगी।

३९—सचमुच ही यह जो कुछ है—सभी श्रीकृष्ण हैं। एक श्लोक भगवान्‌ने भागवतमें कहा है—इतना साफ कि क्या बताऊँ। पर हमारा विश्वास नहीं है, इसीलिये हम दुःखी हैं। कहते हैं—'मनसे, वचनसे, दृष्टिसे तथा और सभी इन्द्रियोंसे जो ग्रहण होता है; वह मैं हूँ—इस बातको जान लो।' अब विश्वास हो तो अपने पुत्र या स्त्रीको तो आँखसे आप देखते ही हैं और आँखसे देखी हुई चीज श्रीकृष्ण कहते हैं 'मैं हूँ।' फिर उनके व्यवहारसे दुःख क्यों होगा?

४०—श्रीकृष्णका स्पष्ट ध्यान नहीं होता तो श्रीकृष्णकी सेवाके उपकरणोंका ही ध्यान कीजिये। भावना कीजिये—भगवान्‌को धूप दे रहे हैं; धूपकी कटोरीका ध्यान करते अथवा धूपके धूएँका ध्यान करते हुए ही मर गये तो आपको निश्चय-निश्चय भगवत्प्राप्ति हो जायगी। व्रजके पेड़का ध्यान करते हुए ही मरे, पर आपको प्राप्ति होगी

श्रीकृष्णकी ही; क्योंकि वहाँका पेड़ श्रीकृष्ण ही है। वह पेड़ यहाँकी तरह जड नहीं। मान लें, कोई ध्यान करता है—वनसे श्रीकृष्ण लौट रहे हैं, संगमरमरकी सड़क है, आगे-पीछे गाय हैं। सड़कके दोनों किनारे बड़े-बड़े आलीशान महल हैं, महलके नीचे फुटपाथ है, उसपर हरे-हरे वृक्ष लगे हैं। अब यदि श्रीकृष्णके रूपका ध्यान न होकर फुटपाथ, सड़क, वृक्ष आदि—इनमेंसे किसी भी वस्तुका ही ध्यान क्यों न हो, पर मन फँस गया तो यहीं जीवित अवस्थामें ही उसे श्रीकृष्णके दर्शन हो जायँगे। साधना पूरी होनेके पहले ही मरना पड़े तो मरते समय चाहे किसी भी वस्तुका ध्यान क्यों न हो, यदि वह श्रीकृष्णके वृन्दावन-भावसे भावित वस्तु है, चाहे पेड़-पौधा ही क्यों न हो, तो उसे निश्चय ही श्रीकृष्णकी प्राप्ति ही होगी। इसका कारण यह कि वृन्दावनमें पेड़, सड़क, डंडा, पत्ता, मकान, खंभा—जो कुछ भी है, वह सर्वथा सच्चिदानन्दमय श्रीकृष्णरूप ही है। इसलिये लीलाके ध्यानमें बहुत आसानी है।

४१—चाहे ध्यान न लगे, पर अपनी जानमें जो कुछ समय निकालकर सच्चे हृदयसे पूरी चेष्टा करता है कि मेरा मन भगवान्‌में लग जाय, उसका ध्यान न होनेपर भी भगवान् उसे अपना भक्त मान लेते हैं। ध्यान न लगे, उतनी देर जीभसे नाम-जप तो हो ही सकता है। चेष्टा हुई या नहीं—इसकी यही पहचान है कि आप जैसे दो घंटे रोज बैठें और उतनी देर यह खयाल रखें कि बस और कुछ भी याद नहीं करना है। अब होगा यह कि आरम्भ करते ही मनमें दूसरी-दूसरी बातें याद आयेंगी। उन्हींके चिन्तनमें मन लग जायगा। पर फिर खयाल आयेगा कि 'अरे, मन-तो भाग गया।' बस, यह खयाल आते ही यदि आपने उतनी बार सचाईके साथ उसे जोड़नेकी चेष्टा की, तब तो

समझना चाहिये कि पूरी चेष्टा हुई। यह न होकर जब ध्यान करने बैठे और दूसरी व्यापार-सम्बन्धी बातोंमें मन भाग गया तथा फिर जब याद आया तो याद आनेपर भी उन्हीं बातोंको सोचने लग गये और यह कहने लगे कि क्या करें, जब ध्यान नहीं होता, तब व्यापारकी ही बात सोच लें—ऐसा करना ही 'पूरी चेष्टा नहीं करना' है। मान लें दो घंटेमें ५०० बार मन भागा, पर ५०० बार ही जब-जब याद आयी, तब-तब पूरी तत्परतासे उसे भगवान्‌में जोड़ देनेकी क्रिया करके यह निश्चय करना कि अब नहीं भागने दूँगा—यही पूरी चेष्टा है।

४२—भागवतमें महापुरुषकी उच्च स्थितिका लक्षण बतलाते हुए यह कहा गया है कि जिसे सचमुच ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, उसे यह ध्यान भी नहीं रहता कि मेरा शरीर बैठा है कि खा रहा है कि टट्टी-पेशाब कर रहा है। उसे अपने शरीरका बिलकुल ही ज्ञान नहीं रहता। जैसे शराब पीकर मनुष्य पागल हो जाय और फिर उसके ऊपर वस्त्र है या नहीं—इस बातका उसे ज्ञान नहीं होता, वैसे ही ब्रह्मप्राप्त पुरुषको अपने शरीरका ज्ञान नहीं होता कि यह छूट गया है कि है। वह तो सदाके लिये आत्मानन्दमें डूब जाता है। शरीर लोगोंकी दृष्टिमें प्रारब्ध रहनेतक काम करता है, फिर वह भी प्रारब्ध समाप्त होते ही गिर पड़ता है। ये स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके वाक्य हैं। अब आप सोचें—यदि कोई सचमुच ब्रह्मप्राप्त पुरुष आपको मिला है तो उनमें यदि वह सच्चा प्राप्तपुरुष है तो ये लक्षण घटेंगे ही; पर यदि दीखता है कि वह महापुरुष पेशाब करता है, भोजन करता है, सबसे बातचीत करता है, व्यवहारमें सलाह देता है और कहीं भी पागलपन नहीं दीखता तो फिर दोमें एक बात होनी चाहिये—या तो वह प्राप्तपुरुष नहीं है, साधक है, या वह इतने ऊँचे स्तरपर पहुँचा हुआ पुरुष है कि उसके

प्रारब्धको निमित्त बनाकर उसके अन्तःकरणमें स्वयं भगवान् ही उसकी जगह काम करते हुए जगत्में अपनी भक्ति, अपने तत्त्वज्ञानका प्रचार कर रहे हैं। इन दो बातोंके अतिरिक्त तीसरी बात मेरी समझमें नहीं आती। या तो उसमें कमी है या वह इतना ऊँचा है कि स्वयं भगवान् उसके शरीररूप खोलीके अन्दरसे काम कर रहे हैं।

देखिये, आपने भगवान्‌को देखा है ? नहीं देखा है। पर फिर उन्हें मानते क्यों हैं ? इसीलिये मानते हैं कि संतोंने उन्हें देखा है और शास्त्र कहते हैं कि 'भगवान् हैं' अतः उसी शास्त्रकी यह बात है कि संत—असली संतका स्वरूप ऐसा होता है। विश्वास होना तो कठिन है; क्योंकि अन्तःकरण सांसारिक वासनाओंसे इतना भरा होता है कि सत्यका प्रकाश उसमें छिपा रहता है। पर सच मानिये—जिस दिन आपका अन्तःकरण तैयार हो जायगा अर्थात् संसारसे बिलकुल उपरत हो जायगा, उस दिन संतमें ही नहीं, आपकी जहाँ दृष्टि जायगी—वहीं एक भगवान्-ही-भगवान् दीखेंगे। पर अभी तो जो आपको दीखता है, उसीको लेकर आपके प्रश्नपर विचार करना है। अस्तु ! आपको जहाँ संत दीखते हैं, केवल वहाँ ही नहीं, जहाँ यह घड़ी दीखती है, वहाँ भी श्रीभगवान् हैं और पूर्णरूपसे हैं। आपमें, मुझमें, इनमें और सब वस्तुओंमें हैं। आपमें, इनमें, हममें प्रकट नहीं हैं—यहाँ छिपे हुए हैं। ये ही भगवान् जहाँ आपको संतका शरीररूप खोली दीखती है—वहाँ प्रकट रहते हैं। अवश्य ही इस बातको समझ लेना थोड़ा कठिन है; क्योंकि वास्तवमें इस बातको बतानेके लिये कोई दृष्टान्त नहीं है। पर ऐसे समझनेकी चेष्टा करें कि जिस दिन श्रद्धा हो जायगी, उस दिन तो यह घड़ी ही भगवान् बन जायगी। दीवाल, खंभे—सब भगवान् बन जायँगे और प्रह्लादकी तरह फिर सबमें भगवान्‌के ही दर्शन होंगे। यह

तो श्रद्धाकी बात है; क्योंकि इन चीजोंमें भगवान् प्रकट नहीं हैं। पर जहाँ प्रकट हैं, वहाँ श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं होती। वहाँ जरूरत होती है केवल देखनेकी, सम्पर्कमें आनेकी। घड़ी देखनेसे अपनेको भगवान्‌की अनुभूति नहीं हो सकती, न घड़ी आपका कल्याण ही कर सकती है। पर संतको देखनेमात्रसे ही, सम्पर्कमें आनेमात्रसे ही आपको भगवान्‌की अनुभूति होनी प्रारम्भ हो जायगी और संतका दर्शन आपका कल्याण कर देगा; क्योंकि वहाँ भगवान् प्रकट हैं।

जैसे आग इस कलममें भी है, इस चौकीमें भी है और हमारे शरीरमें भी है; पर फिर भी संध्या होते ही हमें ठंढ लगेगी ही। पर यहींपर यदि इस कलम, इस चौकीको घिसनेसे आग प्रकट हो जाय तो फिर तो श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं होगी कि हमारी ठंढ दूर हो; इसके पास बैठते ही ठंढ दूर हो जायगी, चाहे आँख मूँदकर ही क्यों न बैठें। एक अंधेको भी बाहरसे लाकर यदि यहाँ बिठा देंगे, जो आग देख नहीं सकता, श्रद्धा भी नहीं कर सकता कि आग ऐसी होती है, पर ठंढ उसकी भी दूर होगी। इसी प्रकार भगवान् जहाँ-जहाँ अप्रकट हैं, वहाँकि लोग दुःखसे त्राहि-त्राहि करते हैं; पर वे ही लोग यदि संतके पास जा पहुँचें तो फिर उनको श्रद्धा नहीं करनी पड़ेगी, बिना श्रद्धाके ही, बिलकुल बिना भावके ही उनका दुःख दूर हो जायगा। अब प्रश्न होता है कि कोई कहे कि 'हमें तो सच्चा संत मिल गया और यदि बिना भावके ही कल्याण होता है तो हमारा क्यों नहीं हुआ ? हमारे मनमें अशान्ति क्यों है ? हमें दुःख क्यों है ?' तो इसका उत्तर यह है कि आप सचमुच ही संतके सम्पर्कमें नहीं आये। नहीं तो, कल्याण हो ही जाता। श्रद्धाकी बिलकुल ही आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल सम्पर्कमें आनेकी। आप नहीं आये; इसीलिये आपका दुःख नहीं

॥ श्रीहरिः ॥

387

प्रेम-सत्संग-सुधा-माला

गीताप्रेस, गोरखपुर

मिटा। सम्पर्कमें आनेका अर्थ है यह कि आपका मन, आपकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं बुद्धि तथा शरीर—सब-के-सब उस संतसे जुड़ जायँ, बिना भावके ही जुड़ जायँ। फिर देखो, एक क्षणमें ही आपकी सारी अशान्ति मिट जायगी। आप एक ऊँचे साधकसे भी जुड़ सकते हैं, पर यदि वह भगवत्प्राप्त पुरुष नहीं है तो उससे जुड़नेपर यद्यपि इस रूपमें भी भगवान् हैं, आपका कल्याण बिना श्रद्धाके नहीं होगा। किन्तु सच्चे संत महापुरुषको बिना जाने, बिना पहचाने, बिना उनपर श्रद्धा किये, पूरा-पूरा उनसे जुड़ जायँ तो फिर निश्चय ही उसी क्षण कल्याण हो जायगा।

संक्षेपमें बात यह है कि श्रद्धा होना और जुड़ना—सम्पर्कमें आना दो वस्तुएँ हैं। किसीमें श्रद्धा होना एवं उससे जुड़ना—ये दो क्रियाएँ हैं। इसे ऐसे समझें—कल्पना करें, यहाँ दो व्यक्ति बैठे हैं। एक सदाचारी साधक है, दूसरा भगवत्प्राप्त महापुरुष है। अब जहाँ वह साधक आपको दीखता है—वहाँ भी असलमें भगवान् हैं, पूर्णरूपसे हैं, पर यहाँ श्रद्धा करनी पड़ेगी कि ये भगवान् हैं तथा उनसे जुड़ना पड़ेगा, अर्थात् मन, वाणी, समस्त इन्द्रियाँ आदिको इनसे जोड़ना पड़ेगा, तब आपका कल्याण होगा। पर महापुरुषके लिये यह बात नहीं है। वहाँ श्रद्धा चाहे बिलकुल ही न हो कि ये भगवत्प्राप्त पुरुष हैं, केवल इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि जुड़ जायँ, बस, आपका काम बन जायगा। कोई कहे कि 'हम तो महापुरुषसे जुड़े हुए हैं' तो मैं आपको कसौटी बताता हूँ कि वे जुड़े हैं या नहीं—इसकी जाँच कर लीजिये। मनका जुड़ना—मनका रूप है दिनभर चिन्तन करना, कुछ-न-कुछ संकल्प-विकल्प करते ही रहना। इसका यही स्वरूप दर्शनशास्त्रमें बताया गया है। अब आप सोचें कि आपका मन दिनभरमें कितना

संकल्प-विकल्प महापुरुषके सम्बन्धमें करता है और कितना संकल्प-विकल्प उनके अतिरिक्त पदार्थोंसे। आँखका जुड़ना क्या है? आँख देखती है। दिनभरमें आप कितनी देर उन्हें देखते हैं, उनकी लिखी हुई पुस्तकोंको देखते हैं? इसी प्रकार समस्त इन्द्रियों एवं बुद्धिकी चेष्टाको औसतपर जाँच लें कि वे किस पदार्थसे जुड़ी हैं।

जिस दिन किसीका मन वैर-भावसे भी महापुरुषसे सोलहों आने जुड़ जायगा, उस दिन उसका कल्याण हो जायगा; क्योंकि श्रद्धाकी बिलकुल आवश्यकता ही नहीं है, आवश्यकता है जुड़नेकी। श्रद्धाकी वहाँ आवश्यकता होती है, जहाँ भगवान् छिपे रहते हैं। जहाँ प्रकट हैं, वहाँ श्रद्धाकी आवश्यकता बिलकुल ही नहीं है। प्रेमसे या वैरसे किसी प्रकार जुड़ना चाहिये। जुड़ते ही काम बन जाता है। यह ठीक है कि महापुरुषसे वैर-भावसे जुड़ना आदर्श नहीं हो सकता तथा वैर-भावसे जुड़नेवालेको मोक्षरूप ही कल्याण मिलता है, भगवत्प्रेमकी प्राप्तिरूप परम कल्याणकी प्राप्ति महापुरुष-द्वेषीको प्रायः नहीं ही होती। मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि संत बिना श्रद्धाके ही काम कर देते हैं, पर जुड़नेकी आवश्यकता तो होगी ही। यह भी एक परम आश्वासनकी बात है कि जिसका एक क्षणके लिये भी किसी इन्द्रियसे वास्तविक महापुरुषके साथ जुड़ना हो गया; उसका कल्याण हो ही जायगा; क्योंकि धीरे-धीरे उसकी समस्त इन्द्रियाँ जुड़ ही जायँगी और जिस दिन समस्त जुड़ गया कि बस, काम बन गया। यही महापुरुषकी विशेषता है। स्त्री-बच्चोंसे तो आप अनन्त जन्मोंमें—अनन्त योनियोंमें जुड़ चुके हैं। उन स्त्री-बच्चोंके रूपमें भी स्वयं भगवान् ही थे, पर अभीतक आपका उद्धार नहीं हुआ। उनसे जुड़े भी भीतरी मनसे ही थे, प्रत्येक योनिमें आप जुड़े रहे हैं; पर काम नहीं बना। इसीलिये

भगवान्‌की यही अनन्त कृपा जीवपर होती है कि वे अवताररूप तथा संतरूपमें प्रकट हो जाते हैं और उनके प्रकट स्वरूपसे बिना भावके ही जो कोई एक क्षणके लिये भी जुड़ जाता है, उसका कल्याण हो ही जाता है। जुड़ना पूरा-पूरा हुए बिना कल्याणमें देर होती है। चाहे एक जन्ममें हो या एक और जन्म धारण करके, पर यह सर्वथा सत्य है कि महापुरुषसे एक क्षणके लिये जुड़ा हुआ भी आगे चलकर पूरा-पूरा जुड़ ही जाता है तथा उसका पूर्ण कल्याण हो ही जाता है।

४३—यह मार्ग ही ऐसा है कि इसपर सर्वथा अहंकारशून्य होकर सारी ममता-माया छोड़कर, बस, श्रीकृष्णको ही एकमात्र जीवनका सार-सर्वस्व बनाकर चलना पड़ता है। जबतक बिलकुल अपनपा मिटा नहीं दिया जाता, तबतक प्रेम प्रकट ही नहीं होता। आप एक भी सच्चे व्रजप्रेमीके जीवनमें भी यह बात नहीं देखेंगे **कि उनके मनमें संसार भी हो और श्रीकृष्णप्रेम भी हो। अन्धकार और प्रकाश दोनों साथ रह ही नहीं सकते या तो संसार रहेगा या श्रीकृष्ण रहेंगे।**

श्रीकृष्णकी कृपासे आपके मनमें एक धुँधली चाह उत्पन्न हुई है, पर यह चाह इतनी मन्द है कि इसको बहुत तेजीसे बढ़ानेकी तथा यह सूख न जाय—इसके लिये चेष्टा करनेकी पूरी आवश्यकता है। बात यह है कि जबतक मन श्रीकृष्ण-प्रेम-रससे सिक्त नहीं होगा, तबतक कोई भी वस्तु सदा रहनेवाली शान्ति दे ही नहीं सकती। इसे आप अपने जीवनमें अनुभव करेंगे, पर धीरे-धीरे।

एक खास बात और है—वह यह है कि आप खूब तेजीसे वैराग्य बढ़ाइये। आपके लिये ही नहीं, किसी भी प्रेम चाहनेवाले साधकके लिये यह आवश्यक है **कि विषयोंसे तीव्र वैराग्य तथा मनके द्वारा निरन्तर भगवत्-चिन्तन हो।** यह नहीं होगा तथा कोई आपको कहे

कि शान्ति मिल जायगी तो समझ लें कि या तो वह कहनेवाला स्वयं भ्रममें है या जान-बूझकर आपको धोखा दे रहा है। संसारमें जबतक भगवद्बुद्धि बिलकुल स्थिर नहीं हो जायगी, तबतक यदि संसारका तनिक भी चिन्तन होगा तो वह अशान्ति करेगा ही। आगको पकड़कर मनुष्य जले नहीं, यह असम्भव है ? इसी तरह संसारको संसारके रूपमें देखते रहनेपर इसके चिन्तनसे जलन बढ़ेगी ही, चाहे आप कहीं भी—किसी भी देशमें चले जायँ। आपको पता नहीं है—शायद वृन्दावनमें रहनेवाले भी कई व्यक्ति बहुत अशान्त रहते हैं। जिन्हें वे आँखे प्राप्त नहीं हैं, वे वृन्दावनमें भी जाकर राग-द्वेषसे बचे नहीं रह सकते। वहाँ भी उन्हें क्षणिक शान्ति ही मिलेगी। वृन्दावनकी चिदानन्दमयताका अनुभव उन्हें नहीं ही होगा। धामके वस्तुगुणसे अन्तमें उनका कल्याण हो जाय, यह बात दूसरी है।

रास देखकर भगवद्भाव हो तो वह वस्तुतः भगवत्-प्राप्तिकी परमोच्च साधना होती है, पर आप नाराज न हों, आपका मन भगवान्‌की ओर नहीं लगता। वह लगता है वहाँकी सजावटपर। जिस मनमें कूड़ा (विषय) है, वह गंदा मन रासके भगवत्-स्वरूपोंमें ज्यादा दिन टिकेगा ही नहीं। रही वृन्दावनकी बात, सो वृन्दावन असलमें जड वस्तु नहीं है कि वह एक देशमें सीमित है, वह भगवान्‌का स्वरूप-तत्त्व है, सर्वव्यापक है। श्रीराधारानी-श्रीकृष्णकी कृपासे जिनकी वह दृष्टि हो जाती है, उन्हें अणु-अणुमें श्रीधामके दर्शन हो सकते हैं, होते हैं। भूलोकमें आप जिस वृन्दावनका दर्शन करते हैं, वह सर्वथा निस्संदेह सच्चिदानन्द विभुतत्त्व है; पर वहाँ भी जिन्हें उस स्वरूपका अनुभव या उसपर श्रद्धा नहीं है, उन्हें वहाँ रहकर भी शान्ति नहीं।

सच मानिये—कहीं भी जायँ, शान्ति तभी मिलेगी जब कि मनसे

संसार निकलेगा। यह नियम ऐसा है कि कभी टलेगा नहीं। आपके प्रति जो मैं प्रार्थना करता हूँ, उसमें यह न समझें कि मैं कोई अपनी बात आपपर लादना चाहता हूँ। केवल इतनी बात आपसे निवेदन कर देता हूँ कि मेरी समझमें आपको संसार मनसे निकलना ही पड़ेगा। यह न करके चाहेंगे कि अशान्ति मिट जाय तो नहीं मिटेगी। अशान्ति तो संसारकी सत्ता मिटनेसे ही मिटेगी। आपके लिये यह एक बात जँच रही है कि आप पूरे निश्चयके साथ चौबीसों घंटे लीलाका श्रवण, चिन्तन, मनन—जब जैसा सम्भव हो, करते रहें। युक्ति मैं आपको बतला रहा हूँ, कुछ दिन करेंगे तो मेरा विश्वास है कि उन्नति होनी ही चाहिये। करनेपर चौबीस घंटे यह अनुभव-सा होने लगेगा—मेरे ऊपर-नीचे, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण वृन्दावन है। मैं वृन्दावन हूँ; मेरा शरीर वृन्दावनके सच्चिदानन्दमय आकाशमें चल रहा है। श्वास लीजियेगा, उस समय अनुभव होगा कि श्वासके साथ पावन वृन्दावनकी वायु मेरे हृदयमें प्रवेश कर रही है। फिर इतनी निश्चिन्तता आयेगी कि शरीर रहे या जाय, मैं तो वृन्दावनमें ही हूँ। साथ ही लीलाका चिन्तन जितनी देर कीजियेगा वह और भी आनन्द बढ़ायेगी, पर यह सब करनेसे होगा। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आपके अन्तःकरणमें ही बैठे हैं। जब उनसे आपको शान्ति नहीं मिली, तब मुझ-जैसे मलिन मनवाले प्राणीकी बातसे कैसे शान्ति मिलेगी। शान्ति तो तभी मिलेगी जब कि या तो संसारके प्रत्येक अन्तःकरणमें आप श्रीकृष्णको देखें; पुत्र, स्त्री, माँ—ये सब-के-सब बिलकुल उनके ही रूपमें दीखने लग जायँ। या इन सबको भूलकर पावन वृन्दावनमें मन इतना रम जाय कि बस, ये हैं कि नहीं, इसकी स्मृति भी मनमें न रहे।

४४—आपने अभी व्रज-प्रेमका साधन कदाचित् आरम्भ ही

किया है। यह खाँड़ेकी धार है। ज्ञान और भक्ति दोनोंसे ही यह न्यारी चीज है। यह इतनी ऊँची चीज है कि इसके मार्गमें पैर रखकर चलनेपर संसारको छोड़ ही देना पड़ता है। पर आपका मन अभी संसारकी उन्नतिमें फँसना चाहता है, घर-गृहस्थीके झंझटमें आप कूद-कूदकर पड़ते हैं। मामूली-से-मामूली तुच्छ बातके लिये उखड़कर लोगोंसे चिढ़ जाते हैं तथा परिवार इतना प्यारा है कि इसके लिये आपको बुरा-भला करनेमें कोई ग्लानि नहीं होती। आप ही सोचें, श्रीकृष्ण-प्रेमके मार्गपर चलनेवालेका भला यह ढंग हो सकता है? देखें, चित्तकी बदमाशी नहीं छूटना एक बात है, तथा उसके लिये परवा न होना दूसरी बात है। पर मेरी दृष्टिमें चाहे गलत हो, मुझे ऐसा लगता है कि अभी आपके मनमें यह पूरी लालसा ही नहीं है कि हमारा मन व्रजमें रमे; क्योंकि उसका लक्षण यह है कि मनके भागनेपर, जैसे याद आया कि मन व्रजसे कहीं अन्यत्र गया है, बस, वैसे ही तीव्र व्याकुलता होगी और तुरंत आप उसे व्रजसे जोड़ देंगे; किंतु आप तो शायद जान-बूझकर व्रजप्रेमका चिन्तन छोड़कर दूसरा काम करते हैं। ऐसी स्थितिमें श्रीकृष्ण ही आपकी सहायता करें, मैं और क्या कहूँ!

व्रजप्रेमी जितने हुए हैं; जितनोंका जीवन मैंने पढ़ा है; प्रायः सभी कहते हैं कि हमारी शक्ति नहीं है कि हम अपना सुधार करें और सचमुच ऐसा ही मानते हैं। पर सुधार न होनेके कारण वे दिन-रात रोते हैं; उनमें कड़ापन, खासकर संतोंके प्रति अकड़ किसीके भी जीवनमें नहीं मिलेगी। अभिमानको तो वे लोग जड़से ही छोड़ देते हैं। इस प्रेमके पीछे न जाने कितने करोड़पति भिखारी बनकर रोटीके सूखे टुकड़े माँगते मारे-मारे फिरे हैं। न तनपर वस्त्र है, न खानेको अन्न। परिवारसे छिपकर अपना जीवन भजनमें बिता चुके हैं। पर आपके जीवनमें

अभीतक मुझे नहीं दीखता कि आपमें व्रज-भक्तोंकी निरभिमानता आ गयी है, रुपयेका महत्त्व कम हो गया है। रुपयेको आप धूलि समझते हों और मानको विष समझते हों—ऐसी बात मुझे अभी नहीं दीखती। वरन् उलटा मुझे तो यह दिखता है कि अभी आपके मनमें धन प्राप्त करनेकी चाह है। और यदि चालू रही तो मेरी समझमें आपका उद्धार तो हो सकता है, पाँच प्रकारकी मुक्ति भी आपको मिल सकती है; पर, यह ढंग रखकर, शास्त्रोंके, जो मैंने पढ़े हैं, देखे हैं, सुने हैं, आधारपर कहता हूँ—आपको यह व्रजप्रेम प्राप्त हो जाना तो बड़ा ही कठिन दीखता है। व्रजप्रेम केवल उसीके लिये है, जो उसके पीछे अपना सब कुछ जलाकर भस्म कर डालनेकी इच्छा रखता हो। संस्कृतमें प्रेमके सिद्धान्तपर बड़े-बड़े सुन्दर ग्रन्थ हैं, इस मार्गके बड़े-बड़े आचार्य हुए हैं और उन्होंने इस व्रजप्रेमके मार्गको अलग छाँटकर बड़े विलक्षण ढंगसे समझाया है। उन्हें देखनेपर पता चलता है कि यह हँसी-खेल नहीं है, इसमें—भीतरी मनसे अनन्त जन्मोंतक नरकतममें सड़नेकी तैयारी जिसके मनमें होती है, वही बढ़ सकता है। वास्तवमें जो श्रीकृष्णप्रेम है, वह कुछ ऐसी दुर्लभ वस्तु है कि उसके लिये सर्वस्व त्याग करना ही पड़ता है—तुच्छ परिवार-धन-जनकी तो बात ही क्या है। शान्ति मिले, आनन्द मिले, हमें शान्ति नहीं मिलती, नहीं मिली—ये बातें किसके मनमें हैं, उसके लिये व्रजप्रेमकी बात करना, कहना, सुनना तो मजाक उड़ानेकी तरह है।

नारायन घाटी कठिन जहाँ प्रेमको धाम।
बिकल मूरछा सिसकिबौ ये मग के बिश्राम॥

श्रीकृष्ण आपपर कृपा करें—और कुछ नहीं केवल आपके मनमें किसी प्रकार **इस संसारसे छूटनेकी लालसा जाग जाय और दीनता**

आ जाय, फिर काम बने, नहीं तो यों संसारको पकड़े रहना और व्रजप्रेम पाना आजतक तो कहीं हुआ नहीं है।

४५—यह जो अशान्ति है और साधना नहीं बनती—इसमें हेतु यही है कि आपको संत एवं भगवान्‌पर श्रद्धा नहीं है। पापके संस्कार श्रद्धा होनेमें बाधक होते हैं ? इसीलिये संत कहते हैं—'भजन करो, निरन्तर भजन करो।' भजन करनेसे अन्तःकरणका मल मिट जायगा और मल मिटा कि बस, विक्षेप और आवरण तो बहुत ही आसान चीजें हैं।×××× ने एक बार बड़े प्रेमसे कहा था—मनुष्यको केवल एक काम करना है; भजनके द्वारा मलका नाश कर देना; बिलकुल इतना ही काम उसको करना पड़ेगा और यह काम उसे ही करना पड़ेगा। रहा विक्षेप अर्थात् मनकी चञ्चलता, इसे दूर कर देंगे संत तथा भगवान्‌ने जो पर्दा डाल रखा है, उसे हटाकर वे सामने आ जायँगे। 'यही आवरणभङ्ग है।' दृष्टान्त दिया था—जैसे दर्पण है, उसपर चिकटा मल चढ़ा है, वह हिल रहा है और पर्दे लगे हैं। अब रगड़-रगड़कर साफ कर दो—बस, तुम्हारा इतना ही काम है। संत नीचे-ऊपर पेंच कसकर हिलना-भटकना नष्ट कर देंगे ! भगवान् पर्दा हटा देंगे। बस, फिर मुख स्पष्ट दीखने लग जायगा। रगड़नेसे यदि परिश्रमका अनुभव हो तो साबुनसे धो दो। निरन्तर नामका जप सहज साबुन है। मनकी मलिनता ही भगवान्‌का आनन्द नहीं लेने देती। अभी आपने लीलाकी, तत्त्वकी इतनी बातें सुनीं; पर इनका आनन्द सबको एक समान नहीं मिला होगा। इसमें एकमात्र हेतु है मनकी मलिनताकी घनता। जिसका मल जितना अधिक घन है, उतना ही इन बातोंका आनन्द वह नहीं उठा सकेगा। नहीं तो, इतनी देरकी बातचीतमें श्रीकृष्णका नाम जितनी बार आया, जब-जब उनके गुणोंकी बात

आयी और वृत्तिने उसे पकड़ा, उतनी-उतनी बार हृदय पिघलकर बहने-सा लगा होता। आप पद सुनते हैं—

'कृष्ण नाम जब ते मैं श्रवन सुन्यौ री आली,
भूली री भवन हौं तो बावरी भई री।'

इसमें रत्तीभर भी अत्युक्ति नहीं, न यह निरी भावुकताकी बात है। बिलकुल सत्य है। यही दशा श्रीगोपीजनोंकी श्रीकृष्णके नाम-रूप-गुणकी स्मृति-श्रवणसे हो जाती है।

आन्तरिक प्रेमके चिह्न बाह्य शरीरपर प्रकट हो जाते हैं और उनका शास्त्रोंमें विस्तारसे वर्णन है। आज भी सच्चे प्रेमियोंमें वे चिह्न प्रकट होते हैं। एक रघुबाबा गोरखपुरमें थे। उनमें 'तनुता'का प्रकाश हुआ था। और भी कई प्रेमविकार उनके शरीरपर स्वयं भाईजीने समय-समयपर देखे। प्रेमपथकी बात ही निराली है। साध्य-साधन एकमात्र श्रीकृष्ण होंगे, वहाँसे पथ शुरू होगा। अभी तो जड़ 'शरीरका आराम' और 'नामका मोह' पग-पगपर पछाड़ रहा है।

प्रेम उत्पन्न होनेपर बिलकुल 'रही न काहू कामकी'-सी दशा भीतर-भीतर हो जायगी, संसारमें कोई भी आकर्षण आपके लिये नहीं रहेगा। इसकी साधना अपने-आप होती है। अपने-आप परिवारसे, धनसे, सभी प्राणियोंसे मोह हटकर दृष्टि निरन्तर श्रीकृष्णकी ओर लग जाती है। केवल श्रीकृष्ण-चर्चा, केवल श्रीकृष्ण-भजन ही जीवनका उद्देश्य नहीं, स्वभाव हो जाता है। प्रेमकी इतनी पवित्र अवस्था प्रारम्भमें ही होती है कि उसमें किसी प्रकारका स्वार्थ, किसी प्रकारका आकर्षण (प्रेमास्पदके अतिरिक्त और किसीके प्रति) रहता ही नहीं। इसकी प्रारम्भिक साधना है—

पर्वतकी तरह दृढ़ निश्चय लेकर मनसे श्रीकृष्णका स्मरण,

जीभसे भजन, कानोंसे श्रवण एवं निरन्तर सजातीय वासना-विशिष्ट सत्सङ्गमें जीवन-यापन।

महाप्रभुने पाँच उपाय बतलाये हैं—

(१) निरन्तर नाम-जप, (२) सजातीय-वासनाविशिष्ट सत्सङ्ग, (३) श्रीमद्भागवतका आस्वाद, (४) श्रीविग्रहसेवा, (५) श्रीव्रजवास।

श्रीरूपगोस्वामीने लिखा है कि ये पाँचों इतनी विलक्षण शक्ति-सम्पन्न साधनाएँ हैं कि कल्पनातीत शीघ्रतासे भाव, जो प्रेमकी पूर्वकी अवस्था है और जिसका एक नाम 'रति' भी है, उत्पन्न हो जाता है। पर **'सद्धियाम्'**इसकी टीका की गयी है—**'अपराधविहीनानाम्'**। अर्थात् जो भगवत्सेवापराध एवं नामापराधसे रहित हैं; उनमें इस साधनासे एक क्षणमें ही भाव उत्पन्न हो जाता है, अपराधयुक्त प्राणीमें नहीं।

४६—जैसे लकड़ीके दो टुकड़े हैं। उन दोनोंमें अग्नि तो व्याप्त है। न विश्वास हो तो रगड़कर देख लें, उसमेंसे आग निकलेगी। इसी प्रकार भगवान् प्रत्येक प्राणीमें बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर व्याप्त हैं। अब जैसे आग कहीं प्रकट हो जाय और प्रकट होकर किसी लकड़ीके खण्डको पकड़ ले तो फिर लकड़ी उसी आगमें जलकर स्वयं आग बन जाती है। जहाँ अग्निका संयोग हुआ कि वह लकड़ी फिर लकड़ी रह ही नहीं सकती। वह निश्चय-निश्चय आग बन जाती है। ठीक इसी प्रकार, जिस समय भगवान्‌का वास्तविक साक्षात्कार संतको होता है, उसी क्षण वह भगवान्‌में मिल जाता है। ठीक भगवान्‌के रूपका बनकर ही तब भगवान्‌का अनुभव करता है। वस्तुतः तो वह स्थिति इतनी विलक्षण—इतनी अद्भुत है कि उसे किसी भी दृष्टान्तसे

समझाया जा नहीं सकता; क्योंकि सभी दृष्टान्त जड-जगत्के हैं और संत एवं भगवान्के मिलनकी बात चिन्मय जगत्की है। पर यदि इस दृष्टान्तको कोई ध्यानमें रखे तो वह कुछ-कुछ कल्पना कर सकता है। भगवान् हैं तो प्रत्येक प्राणीमें, पर कहाँपर किसी कारणसे (प्रेमकी रगड़से) प्रकट हुए और प्रकट होते ही उन्होंने अपने आधारको अर्थात् जिसके लिये जिसमें प्रकट हुए थे उसे बिलकुल पूरा-पूरा अपने समान बना लिया। जलनेके बाद जिस तरह काठ बिलकुल काठ न रहकर अग्नि हो जाता है, ठीक वैसे ही संत देखनेमें तो मामूली मनुष्यकी तरह खाता-पीता, व्यवहार करता है, हँसता-रोता है, संन्यासी न हो तो घर-गृहस्थी भी करता है; परंतु वस्तुतः वह भगवान्की ही एक लीला है। जिससे वे अपनेको छिपाये रहते हैं। प्रश्न यह होता है कि फिर उस शरीरको भगवान् रखते क्यों हैं ? रखते हैं इसीलिये कि उसके स्पर्शमें आकर कुछ और भी प्राणी उस आगमें जलकर उसीकी तरह बन जायँ, इसीलिये प्रारब्धकी लीलाका निर्वाह होता है।

शास्त्र पढ़नेसे तो अनेक प्रमाणोंसे यह बात सिद्ध हो ही जाती है कि सच्चे भगवत्प्राप्त संत भगवान्से अभिन्न हो जाते हैं। युक्तियोंके द्वारा भी मनुष्य इसे समझ सकता है। पर वही समझेगा कि जिसने जीवनका एकमात्र उद्देश्य बनाया है कि 'मुझे प्रभुसे मिलना है।' फिर होता क्या है कि संत स्वयं अपनी गरमी—अपना तेज उसे प्रकट करके दिखलाना शुरू कर देते हैं। उनके तेजका असर तो सबपर होता है, पर बीचमें अहंकार, संसारकी वासना, विषय-सुखकी चाह, उनसे लौकिक स्वार्थपूर्तिकी वासना—ये सब खड़े होकर उनके तेजको देरसे ग्रहण होने देते हैं। जिस दिन जीवनका उद्देश्य एकमात्र भगवान् हो जाते हैं, उस दिन ये सब व्यवधान झड़ जाते हैं, साधक इनको फेंककर

अकिंचन बन जाता है। फिर जहाँपर संत दीखते हैं, उस स्थानपर श्रीकृष्ण दीखें—इसमें तो कहना ही क्या है, उसकी दृष्टिमें सर्वत्र एक श्रीकृष्ण ही रह जाते हैं और वह दिव्य पावन आनन्दके समुद्रमें डूब जाता है। जबतक यह हो, तबतक शास्त्र आज्ञा देते हैं कि 'चाहे किसी भावसे हो, सम्बन्ध जोड़े रहो।' भगवान्‌की करुणा जैसे अहैतुकरूपसे भगवान्‌में रहती है, संतरूप भगवान्‌की मूर्तिमें भी वह करुणा वैसे ही रहती है और वह करुणा किसी दिन एक क्षणमें तुम्हारे व्यवधानको दूर कर देगी। अवश्य ही अलग हटोगे तो भी निस्तार तो होगा ही; क्योंकि एक बारका सम्बन्ध ही निस्तारके लिये पर्याप्त है। पर कुछ देर लगेगी; क्योंकि आखिर नियमसे सब होता है। कोई कहे कि संत अपने-आपको प्रकट करके जीवोंका उद्धार क्यों नहीं करते तो इसका उत्तर, यदि इसमें लाभ होता तो आप ठीक समझें; यह है कि वे प्रकट होकर नाचते। जिस समय प्रकट होनेसे लाभ होता है, उस समय प्रकट भी होते हैं—हुए हैं। पूर्वकालमें महाप्रभु चैतन्यदेव प्रकट हुए थे और खुलेआम प्रेमका वितरण उन्होंने किया था। उस दिन पेटमें प्रेमकी भूख थी। आज तो जगत्‌के प्राणी चाहते हैं—हमको धन मिले, मान मिले। यह देना उन्हें अभीष्ट है नहीं। अधिकांश जगत्‌का वातावरण आज इसी कामनासे कलुषित हो रहा है। फिर इससे भी ऊपरकी एक बात यह है कि भगवान् कब कौन-सा ढंग स्वीकार करते हैं—इसका रहस्य यदि हम समझ जायँ तो फिर भगवान् भी हमारी तरह मामूली ही सिद्ध हों, उनकी भगवत्ता ही क्या रह जाय। अतः शास्त्र एवं संत स्वयं कहते हैं कि चाहे उनकी कोई चेष्टा ऐसी हो कि जिससे जगत्‌को कम लाभ होता हुआ दीखे; पर निश्चय-निश्चय मान लीजिये कि इसी चेष्टासे इस समय अधिक लाभ होगा। यदि न होता तो वे वैसी चेष्टा करते

ही नहीं; क्योंकि उनमें भ्रम-प्रमादकी गुंजाइश ही नहीं है। इसपर विश्वास करा देना बड़ा कठिन है; पर बात बिलकुल सत्य है—शास्त्रकी है, मेरी नहीं। उन ऋषियोंकी बात है, जिनकी बातें त्रिकाल-सत्य हैं।

बिलकुल उनकी कृपासे ही कोई उन्हें जान सकता है। मुझ-जैसे मलिन प्राणी तो संत एवं भगवान्‌के तत्त्वकी वास्तविक कल्पना भी नहीं कर सकते। बंगालकी बात है—हालकी ही। एक माई थी—विधवा हो गयी। पर भगवान्‌में उसका वात्सल्यभाव हो गया। फिर गोपालको पुत्र मानकर उसने तीस वर्षतक उपासना की। प्रतिदिन गोपालको भावनासे भोजन कराया करती थी। अब गोपालको दया आ गयी। एक दिन आये और सचमुच खाने लग गये। पर आधा खाकर ही भाग गये। वह तो प्रेमसे पगली हो गयी। 'गोपाल', 'गोपाल' चिल्लाती हुई मारी-मारी फिरती। उन्हीं दिनों रामकृष्ण परमहंस नामके कलकत्तेमें एक बहुत बड़े महात्मा हुए थे। कुछ लोग उन्हींके पास जा रहे थे। लोगोंने उस माईसे कहा—'चल, बुढ़िया! गोपाल वहाँ मिलेंगे।' वह तो पगली थी ही, थोड़ा चावल और नमक बाँध लिया कि गोपाल मिलेगा तो खिलाऊँगी। वहाँ पहुँची। लोगोंकी भीड़ थी। परमहंस उपदेश कर रहे थे। तरह-तरहके उपहार, मिठाई, फल आदि लोग लाये थे। सब सामने रखा हुआ था। बुढ़िया गयी। परमहंसको देखते ही बिलकुल शान्त हो गयी। परमहंसने उपदेश बंद कर दिया। बोले—'मैया, मैं तो खिचड़ी खाऊँगा।' खिचड़ी बनी। बुढ़ियाको होश हो गया था। वह सोचने लगी कि 'मैं पगली हो गयी थी। ये महात्मा हैं, इनकी कृपासे अच्छी हो गयी हूँ।' इसको आज्ञा हुई—लोगोंने देखा बुढ़ियाका अहोभाग्य है। बुढ़िया लजा गयी, पर लोगोंने कहा—परमहंस तुम्हारी

खिचड़ी खाना चाहते हैं।' परमहंस रामकृष्ण भी पागलकी तरह रहते थे। बुढ़ियाने खिचड़ी बनायी। पर संकोच था, केवल नमक-चावलकी खिचड़ी महात्माको कैसे खिलाऊँ। रामकृष्ण सभामण्डपसे उछले तथा कूदते-फाँदते वहाँ पहुँचे। 'मैया! खिला, भूख लगी है।' रामकृष्ण बैठ गये; बुढ़ियाने परोस दिया। परोसते ही रामकृष्ण गोपालके रूपमें हो गये। बुढ़िया फिर गोपाल! प्यारा गोपाल—कहकर चिल्लाने लगी। उस दिनसे बुढ़िया एवं गोपालका सम्बन्ध नित्य हो गया। कहनेका मतलब यह है कि एक नहीं—ऐसी कितनी घटनाएँ प्रत्यक्षमें होती हैं कि जिनसे संत एवं भगवान् बिलकुल अभिन्न है—यह तो सिद्ध हो ही जाता है, साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि ग्राहक नहीं है, इसीलिये संत उस रूपमें प्रकट नहीं होते। ऐसे-ऐसे संत हुए हैं कि जिन्होंने केवल एक दृष्टि डालकर मलिन-से-मलिन प्राणीमें उसी क्षण प्रेमका संचार कर दिया है।

एक बात और समझ लेनेकी है। संत एवं भगवान्‌में भेद न होनेपर भी जो प्रेमी संत होते हैं, उनमें 'प्रेमी एवं प्रेमास्पद' ये दो भाव रहते हैं।

जिस प्रकार राधारानी एवं श्रीकृष्ण तत्त्वतः एक हैं, पर फिर भी दोनों दो बने रहते हैं, उसी प्रकार प्रेमी संत भगवान्‌से अभिन्न होते हुए भी पृथक् बने रहते हैं। और जैसे राधारानीको प्रसन्न करनेका गुर श्रीकृष्णकी सेवा और श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेका गुर राधारानीकी सेवा है, वैसे ही भक्त और भगवान्‌का भी जोड़ा है।

४७—या तो संतकी अनुभूति सर्वथा मिटा दीजिये और उसकी जगहपर भगवान्‌की ऊँची-से-ऊँची कल्पना जो आपके मनमें हो, उसके अनुसार, उसी भगवत्-सत्ताको अभिव्यक्त देखिये; अथवा भगवान्‌को भी भूलकर सर्वथा एकाग्रचित्तसे एकमात्र यही उद्देश्य बना

लीजिये कि संतके चरणारविन्दमें कैसे प्रेम हो। दोनोंका फल एक ही होगा। दोनोंको एक साथ ले चल सकें, तो भी एक बात है। पर इन दोनों बातोंके अतिरिक्त जो चीज है—वह व्यवधान है, उसे हटा दीजिये। विषयासक्ति, लौकिक स्वार्थ, पारिवारिक मोह—ये व्यवधान हैं। जितनी श्रद्धा है, काफी है। यह नियम है कि वस्तुतः संत यदि कोई हो तो उसमें श्रद्धाकी जरूरत नहीं है; उसकी ओर तो उन्मुख होनेकी जरूरत है। श्रद्धासे तो पत्थरकी मूर्ति भी कल्याण कर देती है। श्रद्धा न हो और फिर ऊँची-से-ऊँची चीज मिल जाय, यही महापुरुषकी विशेषता है। यहाँ फैसला श्रद्धाके तारतम्यसे नहीं होता, उन्मुखताके तारतम्यसे होता है। यही उन्मुखताका तारतम्य ही पारमार्थिक स्थितिके ऊँचे-नीचे स्तरकी प्राप्तिमें हेतु हो जाता है। यह बिलकुल आवश्यक नहीं है कि आप संतके वास्तविक स्वरूपको जानें, बिना जाने सर्वथा अंधकारमें ही रहकर यदि अपना सर्वस्व न्योछावर कर दें तो स्थिति आपको वही मिलेगी, जो जाननेवालोंको मिलेगी। जाननेवालेको कुछ विशेष मिले, यह बात नहीं है; उन्मुख कौन अधिक है—इस बातपर ही स्थिति निर्भर है। कोई भी हो; वह कितनी मात्रामें अपने-आपको मिटाकर उसकी जगह संतको बैठा देनेके लिये तैयार है—यह प्रश्न है। फिर वहाँ जो वास्तविक अभिव्यक्ति अचिन्त्यशक्ति है, भगवत्-सत्ता है, वह उसको उस मात्रामें अपना लेगी। इसलिये उपर्युक्त दो बातोंमें एक बात कीजिये—मेरे कहनेसे नहीं, सर्वथा शास्त्रीय प्रमाणको देखकर। '**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्**'—सूत्रको रटकर संतके ढाँचेकी जगह भगवान्‌को देखिये। अथवा 'हे संत, हे संत, हे संत—' यह रट लगाकर बस, सर्वथा '**अनन्यममता विष्णौ**'की जगह '**अनन्यममता संतचरणेषु**' कर लें। सच मानिये, एक ही फल मिलेगा।

मनुष्यका स्वाभाविक हृदय ऐश्वर्यप्रवण होता है और वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेगा—मान लें, किसीने संतकी जगह सर्वथा भगवान्‌को देखकर चलना प्रारम्भ किया—त्यों-त्यों स्वाभाविक ही उसके मनमें भगवत्-ऐश्वर्यका उदय होगा और वह सोचेगा कि ये सर्वज्ञ हैं, सर्वसमर्थ हैं। पर इस सम्बन्धमें एक नियम याद रखना चाहिये, वह यह कि कल्याण-गुणताके अंशमें (अर्थात् जगत्-उद्धारकी क्रियाके सम्पादनरूप अंशमें) महापुरुषकी ज्यों-की-त्यों वही शक्ति है जो शक्ति अवतारमें अभिव्यक्त होती है। परंतु ऐश्वर्यके प्रकाशकी शक्ति श्रद्धालुकी श्रद्धापर निर्भर है। ऐश्वर्यका प्रकाश केवल उस श्रद्धालुके लिये ही होगा कि जिसका सर्वथा संशयहीन विश्वास, परिपूर्ण विश्वास संतमें एकमात्र भगवान्‌के ही होनेका हो चुका है; जिसके मनमें जरा भी संतपनेकी अनुभूति अलग अवशिष्ट है, उसके लिये बेधड़क प्रकाश नहीं होगा। हमलोगोंमेंसे ऐसा अभी कोई नहीं है, जो किसी संतके प्रति सर्वथा इस श्रद्धाके स्तरपर पहुँचा हो। अतः उसे यह ध्यानमें रखना चाहिये कि ऐश्वर्य-अंशमें भगवत्ताके प्रकाश अर्थात् सर्वज्ञता, सर्वसमर्थताकी अभिव्यक्तिकी ओरसे दृष्टि मोड़ ले। अन्यथा होगा यह कि उसकी श्रद्धाकी कमीके कारण इस शक्तिके प्रकाशमें उसे त्रुटि दीखेगी और वह फिर उधेड़-बुनमें पड़ेगा। इस भागवतीय नियमको याद रखना चाहिये। अवतारमें और भगवद्रूप संतमें, जो जीवभावको लिये हुए जन्मे थे और फिर भगवत्-सत्तामें विलीन हो गये—(दोनोंमें) अन्तर यही है कि जो अनादिसिद्ध भगवान्‌का अवतार है, उसमें तो दोनों शक्तियोंकी अभिव्यक्ति अर्थात् कल्याण-गुणता एवं ऐश्वर्यकी शक्तियोंका प्रकाश बिना श्रद्धाके ही होता है। पर सर्वोच्च संतमें केवल कल्याणगुणता ही

प्रकाशित होती है, ऐश्वर्य श्रद्धालुकी संशयहीन श्रद्धा होनेपर ही कहीं प्रकाशित होता है।

४८—काम करते समय जिस-किसी वस्तुपर दृष्टि जाय, उसीमें एक बार श्रीश्यामसुन्दरकी उस मधुर छबिको देखनेका अभ्यास कीजिये। साथ ही 'नाम' निरन्तर चलता रहे। छूटे, फिर पकड़े; इस प्रकार अपनी जानमें ईमानदारीके साथ जीभसे नाम एवं मनके द्वारा लीलाका या रूपका चिन्तन करनेकी पूरी चेष्टा करें। फिर यदि एक पाई भी सफलता न हो तो कोई आपत्ति नहीं, बिलकुल आपत्ति नहीं। साधना न हो तो दोषकी बात बिलकुल नहीं है, पर उसके लिये मनमें महत्त्व न होकर उसे छोड़ देना दोष है। मान लें—समस्त जीवन चेष्टा करते रह गये, न वृत्ति सुधरी, न भाव हुआ, न विश्वास, यहाँतक कि रूपकी मामूली धारणाकर मन एक सेकण्डके लिये भी स्थिर नहीं हुआ। पर यह लालसा लगी रही और बार-बार करते ही गये तो फिर मैं तो संशयहीन होकर ही यह कहता हूँ कि आपको ठीक वही चीज भगवान् देंगे, जो सर्वथा साधनाकी परिपक्व अवस्थामें ऊँचे साधकोंको मिलती है। ध्यान करते समय कोई चित्र नहीं बँधता, तो घबराइये मत। कभी वृन्दावन तो गये ही हैं। वहाँका सर्वोत्तम दृश्य, जो आपके मनमें हो उसको, उन पेड़-पत्तोंकी धुँधली-सी स्मृति मानस-पटलपर क्या नहीं ला सकते? मैं ठीक कहता हूँ—मस्तिष्क यदि पागल हो जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा निश्चय ला सकते हैं। प्रतिदिन नियमसे एक बार ही स्मरण कीजिये, पर कीजिये अवश्य। फिर देखेंगे वह एक बारकी स्मृति—उन वृक्षोंकी स्मृति ही आगे चलकर अनन्तगुनी हो जायगी तथा मरते समय यदि उन लता आदिकी ही कोई धुँधली-सी स्मृति हो गयी तो निश्चय समझें, आप निहाल हो गये। व्रजमें लता बनेंगे और स्वयं

राधा-रानी एवं श्रीकृष्ण उस लतारूप, सच्चिदानन्दमय लतारूप आपके समीप आकर अपने हाथोंसे फूल तोड़ेंगे तथा आप चाहें तो उसी क्षण अपने इच्छानुसार रूप धारण करके उनकी सेवा कर सकते हैं। व्रजकी लताका ध्यान करके लता बननेवाला ब्रह्मप्राप्त पुरुषसे कम नहीं है। यह भावुकताकी बात हो, ऐसी बात नहीं है। अवश्य ही इस सिद्धान्तको श्रीकृष्णकी अतिशय कृपासे ही आप समझेंगे और विश्वास कर सकेंगे।

स्वयं तो पहले तत्त्वतः श्रीकृष्ण बनकर ही तब व्रजके लता बनेंगे, क्योंकि श्रीकृष्णके व्रजकी लता स्वरूपतः जड वस्तु नहीं है, वह सच्चिदानन्दमय हैं। सोचिये, श्रीकृष्णकी कितनी कृपा है—बिना उस दिव्य लताको देखे ही प्राकृत धारणामें आयी हुई लताका आप ध्यान करते हैं, पर वे इसीको अपना ध्यान मान लेते हैं, इसीको निमित्त बनाकर वे आपको सर्वोच्च स्थिति प्रदान कर देते हैं! आपसे क्या लता, पेड़, पत्ते, मिट्टीके घड़े, पीतलके कलशेका भी ध्यान नहीं हो सकता? और मजा यह है कि इनमेंसे किसीका व्रजभावसे भावित होकर ध्यान करनेपर बिलकुल सच्चिदानन्दमय राज्यमें ही प्रवेशाधिकार मिल सकता है।

संध्या-समय, आपने देखा होगा, गायें वनसे लौटती हैं। ठीक उसी तरहका एक धुँधला चित्र व्रजभावसे भावित होकर इस समय अपने मानस-पटलपर लाकर देखिये—गायें आ रही हैं, बस, श्रीकृष्ण मान लेंगे कि यह मेरा ध्यान कर रहा है।

योगीके लिये मन लगाना, मन स्थिर करना कठिन है; क्योंकि उसे तन्मय करना है एक वस्तुमें। पर यहाँ तो गायसे मन उचटे तो पेड़में, पेड़से मन उचटा तो यमुनाके जलमें, वहाँसे मन उचटा तो वनकी

पगडंडीमें, वहाँसे मन गया तो गोबरमें, धूलिमें (सब सच्चिदानन्दमय है) मन लगाकर कहीं—कुछ भी ध्यान करके कृतार्थ हो सकते हैं। क्या परिश्रम है? केवल चाहकी कमी है।

यहाँ बैठे-बैठे इस कलममें देखें, भावना करें—यह पेड़-सा दीखता है, वृन्दावनमें हरे पेड़ोंका रंग इससे कुछ भिन्न है। अब इस प्रकारके चिन्तनको ही श्रीकृष्ण अपना चिन्तन मान लेंगे और ठीक इसे निमित्त बनाकर मरते समय आपको सर्वोच्च स्थितिका दान कर देंगे। वे देखेंगे, अपनी जानमें इसने मनको मेरी प्यारी वस्तुओंमें लगाया है। गायें मुझे प्यारी हैं, वन मुझे प्यारे हैं, पेड़-लता मुझे प्यारे हैं—इसने मेरी प्यारी वस्तुओंका चिन्तन किया है। इसका तो मैं ऋणी हूँ। यह भी जाने दें; और कुछ न सही, एक बार कहिये—राधा-राधा। ये शब्द—भावुकताकी बात नहीं है—श्रीकृष्णको ऋणी बना देंगे—

अनुल्लिख्यानन्तानपि सदपराधान् मधुपति-
महाप्रेमाविष्टस्तव परमदेयं विमृशति।
तवैकं श्रीराधे गृणत इह नामामृतरसं
महिम्नः कः सीमां स्पृशति तव दास्यैकमनसाम्॥

आपकी समस्त अशान्ति एक क्षणमें दूर हो जायगी। आप केवल व्रज-लीलामें मनको थोड़ा-सा भी ले जानेका अभ्यास डाल लें, यद्यपि यह है सर्वथा कृपासाध्य। बड़े-बड़े ऊँचे अधिकारी हो सकते हैं, पर उनकी अभिरुचि ही इस ओर नहीं होती। समस्त जीवन रचे-पचे रहनेपर भी आनन्द-शान्ति उनके भागमें बहुत ही कम हाथ लगते हैं; क्योंकि उन्हें भगवत्कृपाका अवलम्बन प्रायः नहीं रहता। पर यह व्रज-लीला ऐसी है कि इसमें रुचि यदि हुई तो यह ध्रुव सत्य सिद्धान्त मान लें कि किसी विलक्षण महात्माकी अहैतुकी कृपा आपको उस

स्तरमें ले जानेके लिये हो चुकी है। नहीं तो, रुचि असम्भव है। आप तो अपना परम सौभाग्य समझें। अब केवल थोड़ा-सा और आगे बढ़ जाइये। इस व्रज-लीलाकी कल्पनामें अपने मनको तदाकार कर दें। यह इतना आसान है कि इसकी कल्पना भी बिना लगे हो नहीं सकती। अवश्य ही यह होनी चाहिये सच्ची। व्रजभावसे भावित चित्तसे लता, पेड़, पत्ते, पगडंडी, वन, गायें, गोशालाकी भीत, साड़ी, साफा देखते-देखते ही मन इस नश्वर राज्यसे उठकर वहाँ चला जायगा। वहाँ जाकर आप यहाँकी परिस्थितिके लिये सर्वथा चिन्ताहीन हो जायँगे, यहाँकी उधेड़-बुन रहेगी ही नहीं, मन एक अनिर्वचनीय आनन्दसे भर जायगा।

४९—अत्यन्त तुच्छ-से-तुच्छ पदार्थ, गंदी-से-गंदी चीज आगमें पड़कर अपना समस्त मैल—अपनी समस्त दुर्गन्ध त्यागकर ठीक आगका रूप धारण कर लेती है, वह इतनी तेज हो जाती है कि वह स्वयं अपने सम्पर्कमें आनेवाली वस्तुको भी भस्म कर देती है। इसी प्रकार किसी भी भगवत्-प्रेमी संतसे मिलिये तो सही, मिलते ही थोड़ा नहीं, पूरा-का-पूरा—सब कुछ, जो भी वे हैं, जो भी उनके हैं, सब...आपमें उतर आयेगा। आग तो जड है और संत चेतन ही नहीं, इस विलक्षण जातिके चेतनके रूपमें रहते हैं कि उसकी कोई उपमा ही नहीं है, कोई दृष्टान्त नहीं है कि उस स्थितिको हम या आप बुद्धिके द्वारा समझ लें। जबतक आप ठीक-ठीक उसी रसमें ढलककर अपने-आपको मिटाकर उसी रसके अनुरूप नहीं हो जायँगे, तबतक स्थिति क्या है—यह समझना सम्भव ही नहीं है। बस, रस सच्चिदानन्दमय है; आप स्वयं जबतक समस्त जडतासे सम्बन्ध नहीं तोड़ लेंगे, तबतक उस रसका आस्वाद नहीं हो सकता। अभी तो मन प्यारा लगता है। पुत्र, परिवार, धन प्यारे लगते हैं। जड वस्तुओंकी तह-की-तह चारों

ओरसे लिपटी हुई है। वास्तविक आनन्दकी बात छोड़ दें; संतके प्रति साधारण-से सम्बन्धका जो फल होना चाहिये, वह भी हमलोगोंमेंसे शायद ही किसीमें अभिव्यक्त हुआ हो ? देखें, मैं कहता हूँ—'आप यह कार्य कर दें' और संत भी मेरी तरह ठीक यही बात कहते हैं। दोनों ही शब्द हैं, पर दोनोंमें इतना अन्तर है कि उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती। मेरा कहना, मेरी आवाज, उस चेतन सत्ताके आधारपर है, जिसकी संज्ञा 'जीव' है और जिसमें यह अहंकार वर्तमान है कि मैं हूँ; परंतु आप यह कार्य कर दें—संतके मुखके निकले हुए ये शब्द उस विलक्षण अनिर्वचनीय चेतन सत्ताके आधारपर हैं जो कहता है—

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ॥'

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

'अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥'

परंतु क्या आपको वह आनन्द मिलता है ? निश्चय ही नहीं मिलता। मिलता होता तो आपकी स्थिति ही बदल जाती। वहाँ, संतके ढाँचेके अन्तरालमें वह बोलता है, जो सर्वेश्वर है, जो '**सुहृदं सर्वभूतानाम्**'की घोषणा करता है; जिसमें केवल आनन्द-ही-आनन्द है। पर आपको तो डर लगता है, प्रतिकूलताकी प्रतीति होती है। जहाँ प्राणकी व्याकुलता लेकर सदाके लिये उसीमें समा जानेकी इच्छा हो जानी चाहिये थी, वहाँ उपरामता भी आती है। ऐसा क्यों होता है ? इसलिये कि उसमें मिले नहीं। आगकी तरह उसकी कृपा आपको चारों ओरसे घेर रही है, घेरे हुए है और आगे चलकर वह मिला भी लेगी निश्चय; परंतु अभीतक आप अपनी ओरसे मिले नहीं। अपनी दुर्गन्धसे आपको घृणा नहीं है। आप उसमें मिल जानेकी तीव्र लालसा नहीं रखते। विश्वास कीजिये—'आप चाहे मलिन-से-मलिन प्राणी

क्यों न हो, केवल मैलेकी तरह आपमें दुर्गन्ध ही क्यों न भरी हो, बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, केवल बदबू आ रही हो; पर 'संत' नामकी वस्तु इतनी पवित्र है, इतनी सरस है कि उसका स्पर्श होते ही आप बिलकुल उसी ढाँचेमें ढल जाइयेगा। आग क्या यह देखती है कि यह मैला है? मैला आगमें पड़ा कि सारा-का-सारा अंगारा बन जायगा। अस्तु; मिलिये। उसमें मिलिये। अपनी सारी मलिनता, सारी दुर्गन्ध लेकर मिलिये! दिन-रात उसके इशारेपर चलनेकी चेष्टा कीजिये। दिन-रात सोचिये, संत कितने कृपालु हैं। दिन-रात यह विचार कीजिये—'कृपामय! तुम्हारी कृपा ही मुझे भले अपना ले, मुझमें तो बल नहीं।' दिन-रात नाम लीजिये, चलते-फिरते नाम लीजिये। इससे बड़ी सहायता मिलेगी। दिन-रात यही इच्छा कीजिये कि संतका संग न छूटे। दिन-रात यही सोचिये कि संतके लिये परिवार, संतके लिये इज्जत यदि बाधक है तो संतके चरणोंमें इनको भी समर्पण कर देना है। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं किसीको संन्यासी बननेकी उत्तेजना देता हूँ। बाहर कपड़ा रँगकर भी क्या होगा। परंतु यह ठीक है, नितान्त सत्य है, सर्वस्वकी आहुति देनेके लिये तैयारी मनसे ही करनी पड़ेगी। बाहरका ढाँचा ज्यों-का-त्यों रहकर मन बिलकुल खाली हो जायगा, तभी आपकी अभिलाषा पूर्ण होगी। यदि किसी संतकी दृष्टि—अमृतमयी दृष्टि, अमोघ दृष्टि पड़ चुकी है तो आपके लिये परवाना काटा जा चुका; परंतु आप यदि अपनी ओरसे देनेके लिये—जिसकी चीज है, उसकी ही चीज उसको लौटानेके लिये तैयार हो जायँ, अर्थात् अपनी ममता उठाकर सबपर उसका अधिकार मान लें तो फिर शीघ्र-से-शीघ्र कृपा प्रकाशित हो जायगी। आपने पूछा और मेरे ऊपर आपका प्रेम भी है इसीलिये कहता हूँ—रोटी मुझे भी भगवान् ही देते

हैं, कपड़े भी वे ही देते हैं, आपको भी वे ही देते हैं और देंगे। फिर अपनी एवं परिवारकी चिन्ता क्यों करते हैं? मैं जिस दिन उनका होऊँगा, उसी दिन मेरा मन यह ठीक कहेगा कि 'मुझसे सम्बद्ध समस्त चीजें उनकी हैं—वे उन्हें नष्ट कर दें, तोड़ दें, फेंक दें या जो भी चाहे करें—मैं क्यों कहूँ—ऐसा करें, वैसा करें। मेरी कोई चाह नहीं—उनकी चाह ही, बस आपकी चाह।' यह भाव ही संत-चरणोंमें प्रेम होनेकी पहली सीढ़ी है।

५०—आप पाँच सूत्रोंको याद रखें—

(१) विषय-त्यागसे प्रेम।

(२) लीला-गुणोंके श्रवणसे प्रेम।

(३) अखण्ड-तैलधारावत् भजनसे प्रेम।

(४) पर मुख्यतः भगवान्‌के भक्तकी कृपासे ही प्रेम होता है। और—

(५) यह कृपा उनकी कृपासे ही प्राप्त होती है।

पर निमित्तरूप उपाय है—रोना, भगवान्‌के सामने रोते जाना। मनमें केवल श्रीराधाकृष्णके चरणोंमें न्योछावर होनेकी लालसा रहकर बाकी सब लालसा मिट जानी चाहिये।

५१—पुत्र, स्त्री, बच्चे, परिवारका चित्र बहुत आग्रहपर ही मनमें आये; अन्यथा वे कैसे हैं, उनका क्या हो रहा है, उनका भला-बुरा किस बातमें है—इन सबको सर्वथा विश्वासके साथ भगवान्‌पर छोड़कर सर्वथा निश्चिन्ततापूर्वक जागनेसे सोनेतक केवल भजन-स्मरणमें समय बिताना—यही ऊँचे स्तरके त्यागका बाहरी रूप है।

५२—एक मित्रको मैंने उनके जीवन-सुधारका यही उपाय बतलाया है कि पापसे बचो, बचनेकी चेष्टा करो; परंतु जब भी, जिस

प्रकार भी बुरे विचार मनमें आयें; उन्हें साफ-साफ लिखकर किसी संतके पास भेजते रहो; फिर कोई परवा नहीं।

५३—विज्ञानका नियम है—काँच ही नहीं, समस्त धातु बनते ही हैं सूर्यसे। सूर्यकी किरणोंसे ही समस्त धातुओंका निर्माण होता है। सूर्यकान्तमणि भी बनती है सूर्यसे ही। उसी प्रकार ठीकसे कोई भी भगवान् एवं संतकी कृपाको ग्रहण करके एक क्षणमें ही उच्च-से-उच्च अधिकारी बन सकता है। आज व्याख्यानमें सुना—लाखों वर्षके अन्धकारको मिटानेके लिये लाख वर्षकी जरूरत नहीं है। जरूरत है प्रकाश पहुँचनेकी। प्रकाश आते ही उसी क्षण उजाला हो जायगा। ठीक इसी प्रकार रत्तीभर भी कोई साधना नहीं चाहिये, कुछ भी जरूरत नहीं है, जरूरत है—बस, आप सच्चे मनसे चाह लें उनकी कृपाको ग्रहण करना। निश्चय समझें, फिर वह उसी क्षण प्रकाशित हो जायगी। उसी सच्ची चाहका स्वरूप यही है कि दूसरी कोई भी चाह मनमें न रहे और वह चाह किसी अन्य वस्तुसे मिटे नहीं।

५४—सर्वत्र भगवद्दर्शन तथा महापुरुषोंके प्रति तीव्र आकर्षण दोनों ही बातोंके लिये जिस क्षण तीव्र उत्कण्ठा, तीव्र चाह उत्पन्न होगी, उसी क्षण आपकी दशा बड़ी विलक्षण हो जायगी। जीवनमें केवल एक ही उद्देश्य रह जायगा—कैसे ये दो बातें पूरी हों, कैसे किस उपायसे जल्दी-से-जल्दी यह हो जाय। उस समय जो भी उपाय आपको बताया जायगा, कोई मामूली व्यक्ति विनोदमें भी आपको बता देगा तो आप वही करनेके लिये पागलकी तरह तैयार हो जाइयेगा। वह करना नहीं पड़ता, स्वाभाविक मनकी ऐसी दशा हो जाती है। पर अभी क्या दशा है—विचारें, चेष्टा करनेके लिये मन बहुत कम तैयार है। भगवद्दर्शनके लिये सर्वश्रेष्ठ उपाय—सबसे सरल उपाय, जिसमें

मनकी बहुत कम जरूरत है, ऐसा भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको श्रीमद्भागवत-समाप्तिके समय बताया है, पर उसे कौन करनेके लिये तैयार है ? भगवान्ने कहा है—

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम् ।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥
यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते ।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः ॥
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २९ । १६-१७, १९)

'हँसनेवालोंकी परवा छोड़ दो, लज्जा एवं देहाभिमानादि भी छोड़ दो तथा कुत्ते, चाण्डाल, गौ, गधेतकको भूमिपर पड़कर साष्टाङ्ग दण्डवत् करो। जबतक सभी भूतोंमें मेरी अभिव्यक्ति न दीखे, तबतक शरीर, मन एवं वाणीकी वृत्तिसे ऐसी उपासना करो। भगवत्प्राप्तिके जितने उपाय हैं, उनमें सबसे सुन्दर उपाय मेरी रायमें यही है कि सभी भूतोंमें मन, वाणी एवं शरीरकी वृत्तिसे मेरी भावना की जाय।'

ये भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखके वाक्य हैं।

भगवान् श्रीकृष्णसे बढ़कर उपदेशक न कोई है, न हुआ है, न होगा। पर कौन उपर्युक्त उपायको करनेके लिये तैयार है ? आपका शरीर इसे कर ही नहीं सकेगा। तरह-तरहकी युक्तियोंका, योग्यताका, महापुरुषकी रायका बहाना बताकर आप इसे टाल देंगे। इसी प्रकार महापुरुषोंमें श्रद्धाके लिये जिस समय सर्वस्व-त्यागका प्रश्न खड़ा हो जाय, उस समय इतने ऊँचे त्यागकी बात छोड़ दीजिये, तुच्छ-से-तुच्छ त्याग भी सहजमें नहीं होगा। आपको जीवन-निर्वाहके लिये कमी नहीं

है। पर मनमें रुपयेका महत्त्व रहनेके कारण होता यह है कि जरा-सा कहीं भी उसमें नुकसान पहुँचनेकी बात ध्यानमें आ जाय तो सबसे पहले उसकी रक्षाका प्रश्न उठ खड़ा होता है। ठीक ऐसे ही जिस दिन भगवद्दर्शन, संतप्रेमका महत्त्व मनमें घर कर जायगा, उस दिन अपने-आप सभी उपाय आप करने लग जायँगे।

५५—हमलोग असलमें भगवान्‌की महिमा जानते ही नहीं। जानते होते, तो उन भगवान्‌का साक्षात् करके उनके साथ तरह-तरहके नित्य नये प्रेमका व्यवहार करनेवाले महापुरुषको देखकर जीवनकी ऐसी विलक्षण दशा हो जाती कि उसका वर्णन करना असम्भव है। आप विचारें, भारतवर्षके मुख्य मन्त्रीसे मिलकर जब कोई आदमी बँगलेसे बाहर आता है और वह यदि किसीसे हाथ मिला लेता है अथवा किसीकी ओर थोड़ा मुसकुरा देता है तो वह आदमी समझता है, मानो हम तो बस, निहाल ही हो गये तथा कहीं वह किसीको मोटरमें साथ बैठा ले, उस समय तो उसके गौरवकी, उसके मनमें अपने ऊँचे होनेकी भावनाकी जो तरङ्गें उठती हैं, उसकी कोई सीमा नहीं है। अब भला, ऐसे-ऐसे अनन्त मुख्यमन्त्री ही नहीं, अनन्त ब्रह्माण्ड जिसके इशारेसे एक क्षणमें पलक मारते-मारते बन जाते हैं और दूसरे क्षण नष्ट हो जाते हैं, वह अखिल ब्रह्माण्डपति स्वयं जिसके सामने आकर अत्यन्त प्रेमसे बातें करें, उनके साथ तरह-तरहकी लीला करें, तो ऐसे पुरुषसे बढ़कर जगत्‌में और कौन है? मान लें कोई महापुरुष है, वह एकान्त कमरेमें बैठा भगवान्‌से बातें कर रहा है, उसी समय आप आये, बाहरसे पुकारा और पुकारते ही वह महापुरुष आपसे बड़े प्रेमसे कहे—आओ, पधारो। अब यदि आप रत्तीभर भी इस बातका महत्त्व जानते, तो फिर ऐसा अनुभव होता कि जगत्‌में हमसे बढ़कर

भाग्यवान् कोई नहीं है। अशान्तिकी तो छाया भी आपको नहीं छू सकती और मन उस अतुलनीय आनन्दसे निरन्तर इस प्रकार भरा रहता कि जगत् आपको देखकर दंग रह जाता। अरे, जिन आँखोंसे उस महापुरुषने अभी-अभी भगवान्‌को देखा है, अभी-अभी जिस शरीरको भगवान्‌ने स्पर्श किया है, उन्हीं आँखोंसे वह महापुरुष आपको देख रहा है, उसी शरीरसे आपको स्पर्श कर रहा है; सच मानिये—यदि किसी दिन भगवान्‌की अपार कृपासे भगवान्‌की महत्तापर विश्वास कीजियेगा, उसी दिन बस, महापुरुषके मिलनेका क्या आनन्द होता है—यह समझ सकियेगा। मन बिलकुल विषयोंसे कूट-कूटकर भरा है। हम लोगोंका मन एकदम गंदा है, इसीलिये महापुरुषके दर्शनका हमें आनन्द नहीं मिलता। समझना-समझाना कठिन है; पर वस्तुतः महापुरुषके सङ्गका आनन्द इतना दिव्य, इतना विलक्षण, इतना असीम है कि बस, आनन्दकी कहीं भी, किसी भी सुखसे तुलना हो ही नहीं सकती। वह आनन्द क्षण-क्षण बढ़ता ही जाता है, कभी समाप्त नहीं होता। हाथ जोड़कर, दीन होकर रोते हुए हमलोग प्रार्थना करें—'प्रभो! अत्यन्त पामर, दीन, हीन, मलिन, विषयोंके कीट हमलोगोंपर अपनी कृपा प्रकाशित करो। नाथ! तुम्हारे जन संतोंके प्रति निःस्वार्थ प्रेम, केवल प्रेमके लिये प्रेम उत्पन्न कर दो।' प्रतिदिन प्रार्थना कीजिये। प्रार्थनासे बड़ा काम होता है। सच मानिये—ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे भगवान् न दे सकें। ऐसी कोई प्रार्थना नहीं, जिसे भगवान् पूरी न कर सकें। वे असम्भवको सम्भव एक क्षणमें सबके लिये बिना पक्षपातके कर सकते हैं। पर हमलोगोंका उनपर विश्वास नहीं, यही दुर्भाग्य है।

हरिसे लागा रहु रे भाई। तेरी बनत बनत बनि जाई॥

जिसकी अपार कृपासे, अहैतुकी कृपासे, आप यहाँ पारमार्थिक पवित्रतम वातावरणमें आ पहुँचे हैं, उसीकी अपार कृपा निश्चय ही बिना किसी भी शंका-संदेहके आपके आगेका रास्ता भी तय करा देगी, भक्त भारतेन्दु बाबूका एक पद है, उसकी दो पंक्तियाँ ये हैं—

जो हम बुरे होइ नहिं चूकत नितही करत बुराई।
तो तुम भले होइ छाँड़त हौ काहे नाथ भलाई ? ॥

'नाथ ! मैं बुरा हूँ, बुरा करना मेरा स्वभाव है, मैं नित्य-निरन्तर बुराई ही करता रहता हूँ, बुराई करनेसे कभी भी नहीं चूकता, अपना स्वभाव मैं नहीं छोड़ता, तब मेरे नाथ ! तुम भले होकर अपना स्वभाव क्यों छोड़ते हो ? तुम्हारा स्वभाव तो भला करना है ही, फिर तुम भी अपना स्वभाव मत छोड़ो।'

बिलकुल ऐसी ही बात भगवान् करते हैं निश्चय मानिये—जैसे सूर्यमें यह शक्ति ही नहीं कि वे किसीको अन्धकार दे सकें, वैसे ही भगवान्में, विनोदकी भाषामें कहनेपर, यह कहा जा सकता है कि उनमें यह शक्ति नहीं कि वे किसीकी बुराई कर सकें। अब आप ही सोचें, जीत किसकी होगी ? एक ओर अखिल ब्रह्माण्डपति अपने स्वभावका पालन करेंगे और एक ओर तुच्छ प्राणी अपने स्वभावका पालन करेगा। इन दोनोंमें निश्चय ही जीत भगवान्की होगी।

५६—सूर्यसे ही सब वस्तुएँ बनती हैं। काँच, सोना, चाँदी और मणियाँ—सब सूर्य ही बनाते हैं। सूर्यकी किरणोंसे ही सब बनता है। पर उन्हींकी बनायी हुई चीजोंमेंसे किसीपर तो किरण खूब चमकती है, किसीपर किरण पड़कर थोड़ा गरम होकर ही रह जाती है। इसी प्रकार अहैतुकी कृपा ही सबमें भगवद्विश्वास पैदा कराती है। धीरे-धीरे यह

कृपा ही पूर्ण विश्वास कराती है। कृपामें पड़े रहकर अपने-आप अन्तःकरण पूर्ण कृपा-प्रकाशका अधिकारी बन जाता है। इसलिये घबराना नहीं चाहिये—बस, पड़े रहना चाहिये कृपारूप किरणोंके प्रकाशमें। फिर आप ही सर्वोत्तम बन जाइयेगा।

८७—यदि आप अभी किसी दूरस्थित मित्रको याद करें तो उसकी मानसिक मूर्ति तो सामने आ जायगी, पर उसका शरीर यहाँसे बहुत दूर किसी अन्य स्थानमें होनेके कारण नहीं दीखेगा; परंतु भगवान्‌में यह बात नहीं है। भगवान् और भगवान्‌का स्मरण दो वस्तु नहीं हैं। जिस समय आप भगवान्‌की मूर्ति अपने मानसपटलपर लाते हैं, उसी समय वहीं पूर्णरूपसे भगवान् आपके मनमें आ जाते हैं। पर वे बोलते इसलिये नहीं हैं कि आप उन्हें भावनाका चित्र मान लेते हैं और थोड़ी देर बाद फिर दूसरे कामोंमें लग जाते हैं। यदि ठीकसे कोई एक भी लीलाका चित्र बाँधकर मनको उसमें डुबाये रखें तो उसी भगवान्‌की मूर्तिमें भगवान् प्रकट हो जायँगे; क्योंकि भगवान् वहाँ पहलेसे ही हैं। जबतक मन नहीं लगायेंगे, तबतक 'मैं भगवान्‌को चाहता हूँ' यह कहना बनता नहीं। आप ही सोचें—धन चाहनेपर मन उसमें कैसे लगता है ? कौन-सी युक्ति मन लगानेकी आपने किसीसे पूछी थी ? नहीं पूछी थी, मनकी स्वाभाविक गति धनकी ओर लग रही थी, क्योंकि धनकी चाह थी। इसी प्रकार जहाँ भगवान्‌की चाह है, वहाँ मनकी गति उसी ओर दौड़ेगी। धन तो चाहनेमात्रसे नहीं मिलता, उसके लिये न जाने कितने उद्योग करने पड़ते हैं, फिर उद्योगके सफल होनेका निश्चय नहीं। पर इसमें केवल चाहकी जरूरत है। 'हे नाथ ! तुम मुझे मिल जाओ'—यह चाह होते ही वे मिल जायँगे। आप ही सोचें—जब भगवान्‌का चिन्तन छोड़कर मन दूसरी चीजपर जाता है, तब उसके

लिये भगवान्‌से अधिक मूल्य उस वस्तुका है या नहीं? और जब उसकी कीमत आपके मनमें अधिक है तो भगवान् क्यों आयें? मुझे सचमुच ज्ञात नहीं कि भगवान्‌के लिये सच्ची चाह कैसे उत्पन्न होती है; पर यह ठीक-ठीक जानता हूँ कि सच्ची चाह उत्पन्न होते ही वे मिल जायँगे। मैं तो अपनी बात कहता हूँ—सचमुच मुझे यही लगता है कि चाह होते ही भगवान् उस चाहको पूर्ण कर देंगे।

५८—मोहन मुखारबिंद पर मनमथ कोटिक वारौं री माई।
जहँ जहँ अंगन दृष्टि परति तहँ तहँ रहत लुभाई॥
अलक तिलक कुंडल कपोल छबि
इक रसना मो पै बरनि न जाई॥
गोबिंद प्रभुकी बानिक ऊपर
बलि बलि रसिक चूड़ामनि राई॥

जगत्‌का समस्त सौन्दर्य इकट्ठा कर लेनेपर भी श्यामसुन्दरके श्रीविग्रहके सौन्दर्यसागरकी एक बूँदके भी बराबर नहीं होता। त्रिभुवनमें सबसे सुन्दर कामदेव माने जाते हैं; पर शास्त्रमें ऐसा वर्णन मिलता है कि श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके रूपके करोड़वें अंशके करोड़वें अंशसे कामदेवमें सुन्दरता आती है। श्रीकृष्णके एक-एक अंगपर करोड़ों कामदेवोंकी छबि फीकी पड़ जाती है। यह केवल भावुकताकी बात नहीं है। सचमुच ही जिन संतोंको उनकी हलकी-सी झाँकी मिल जाती है, वे बिलकुल पागल-से हो जाते हैं। इसी त्रिभुवनमोहन नामको सुनकर श्रीकृष्णके प्रति श्रीगोपीजनोंका हृदय बिक जाता है। साधनाके बाद जब गोपीभावके साधकोंका नित्य सच्चिदानन्दमय वृन्दावन धाममें जन्म होता है और गोपीदेहमें जब किशोर-अवस्थाका प्रादुर्भाव होता है, तब श्रीकृष्णका रूप देखनेका, श्रीकृष्ण-नाम सुननेका एवं उनकी

वंशीध्वनि सुननेका सुअवसर उन्हें प्राप्त होता है। बस, एक बार इन तीनोंमेंसे किसीको देखने या सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ कि एक अनिर्वचनीय दशा प्रारम्भ होती है, जिसकी जगत्‌में कहीं कोई तुलना ही नहीं है। सूरदास, नन्ददास आदि महात्माओंने इसी दशाका वर्णन करते हुए जो पद लिखे हैं, उन्हें 'हिलग'के पद कहते हैं। यथार्थ दशाका वर्णन तो वाणीमें आ ही नहीं सकता। जो आता है, वह भी उसीको अनुभव हो सकता है कि जो निरन्तर भजन-स्मरण करते-करते अपनी सारी विषयासक्ति खो चुका है। अस्तु, जब गोपियोंकी व्याकुलता—श्रीकृष्णसे मिलनेकी व्याकुलता चरम सीमाको पहुँच जाती है, तब पहले-पहल उनका रासलीलामें श्रीकृष्णके साथ मिलन होता है और इसके बाद उन्हें सेवाका अधिकार मिलता है। फिर एक लीला होती है—विरहकी लीला, अर्थात् श्रीकृष्ण व्रजसुन्दरियोंको छोड़कर मथुरा चले जाते हैं और वहाँसे द्वारका चले जाते हैं। इसी वियोगकी दशामें प्रेमका यथार्थ स्वरूप खिलता है। प्रेम क्या वस्तु है, यह व्रजसुन्दरियोंकी दशासे कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इसी दशाका वर्णन करते हुए महात्माओंने लीला देख-देखकर जो पद लिखे हैं, वे विरहके पद कहे जाते हैं। महात्माओंके जो पद मिलते हैं, उनमें भी कुछ ऐसे हैं, जो कल्पनासे लिखे गये हैं और कुछ लीला देखकर—अनुभव करके लिखे गये हैं। यह निर्णय पहुँचे हुए संतलोग ही कर सकते हैं कि कौन अनुभवका है, कौन कल्पनाका। पर हमारे-जैसे तुच्छ प्राणियोंके लिये, पामर प्राणियोंके लिये तो सभी पद—चाहे कल्पनाके हों, चाहे अनुभवके हों—पवित्र करनेवाले ही हैं। अतः श्रद्धासे युक्त होकर व्रजसुन्दरियोंकी कैसी दशा होती है, प्रेमकी कैसी विलक्षण अतुलनीय अवस्था होती है—इसे सुनकर कृतार्थ

होनेकी आशासे, उन व्रजसुन्दरियोंकी चरणधूलिकी वन्दना करते हुए, उनकी कृपाके एक कणकी भीख माँगते हुए हमलोग उनकी विरह-चर्चा करें, सुनें। मन लगानेके उद्देश्यसे नहीं, मनको पवित्रतम करनेके उद्देश्यसे विरहकी चर्चा सुनें, करें।

उन विरहके पदोंमें भी कई तो श्रीराधाजीके विरहके पद हैं और कई उनकी सखियोंके विरहके। पर यह भी निर्णय करना कठिन है कि कौन किसके हैं। अस्तु, किसीके भी हों, हमारे-जैसोंको चरणोंमें स्थान देकर, हमारी मलिन आत्माओंको अपनी कृपाकी बूँद देकर कृतार्थ करें—यही राधारानीसे, व्रज-सुन्दरियोंसे एवं श्रीकृष्णसे प्रार्थना है।

५९—प्रेमकी सब अवस्थाओंका, ऊँचे-से-ऊँचे भावोंका विकास श्रीराधारानीमें होता है। रसशास्त्रके पण्डितोंने तथा भावुक, अनुभवी वैष्णवोंने इन बातोंकी विस्तारसे आलोचना की है। उसी प्रेमकी एक अवस्थाका नाम है—प्रेम-वैचित्त्य। इसका प्रकाश प्रायः राधारानीमें ही होता है तथा उनकी अष्टसखियोंमें भी होना सम्भव है। इसमें होता है यह कि श्रीकृष्ण पासमें रहते हैं, राधारानी स्वयं श्रीकृष्णकी गोदमें सिर रखकर लेटी रहती हैं, पर उन्हें यह भान होने लग जाता है कि श्रीकृष्ण हमें छोड़कर कहीं चले गये और रोने लगती हैं—इतनी व्याकुलता हो जाती है कि फिर सर्वथा मरणकी दशा उपस्थित हो जाती है। श्रीकृष्णकी गोदमें रहकर ही ऐसी दशा होती है। श्रीकृष्ण यह देखकर आनन्द-निमग्न होते हैं तथा राधाप्रेमकी अतुलनीय दशाका आस्वाद लेते हैं।

रासलीलामें सब गोपियोंको छोड़कर श्रीकृष्ण राधारानीको एकान्तमें ले चले। वे दो ही रह गये और उच्चतम प्रेमकी तरङ्गोंका प्रवाह आरम्भ हुआ। श्लोकोंमें उसका संकेत श्रीशुकदेवजीने किया है।

इसके बाद अत्युच्च अवस्था, मानकी अवस्था आरम्भ हुई। यह मान यहाँका निकृष्ट अभिमान नहीं है। लोग सोचते हैं कि श्रीराधारानीने अभिमान कर लिया, इसीलिये श्रीकृष्ण उन्हें छोड़कर चले गये; पर वहाँ तो बात ही अत्यन्त विचित्र हुई थी। यह मैं केवल अपने अनुभवहीन ज्ञानपर नहीं कह रहा हूँ, परम रागमार्गीय भक्त सनातन गोस्वामीको इस लीलाका संकेत प्राप्त हुआ था और उन्होंने अपनी रासकी टीकामें इसका संकेत भी किया है। अस्तु, प्रेमकी उच्चतम अवस्था बढ़ते-बढ़ते वैचित्त्यकी अवस्था आरम्भ हो गयी और राधारानी ठीक श्रीकृष्णके पास रहकर भी यह अनुभव करने लगीं कि श्रीकृष्ण मेरे पास नहीं हैं। 'हा नाथ ! रमण ! प्रेष्ठ !' आदि उस प्रेम-वैचित्त्यकी अवस्था है, जहाँ श्रीकृष्णकी गोदमें पड़ी हुई राधारानी यह श्लोक कह रही हैं और श्रीकृष्ण आनन्दमें डूब रहे हैं। श्रीराधारानी मूर्च्छित हो जाती हैं। उसी क्षण गोपियाँ खोजती हुई वहाँ आ पहुँचती हैं। श्रीकृष्णको उनकी आहट मिल जाती है और इसके पहले कि वे राधारानीको सचेत कराकर दूसरी अवस्थामें ले चलें, उन्हें गोपियाँ दीखने लग जाती हैं। इसलिये श्रीकृष्ण वहीं वृक्षोंकी आड़में खड़े हो जाते हैं, गोपियाँ आती हैं, श्रीराधारानीको मूर्च्छित अवस्थामें पाती हैं, उनको चेत कराती हैं। राधारानी समझती हैं कि श्रीकृष्ण मुझे छोड़कर बहुत पहले चले गये हैं, पर श्रीकृष्ण तो उन्हें अभी-अभी छोड़कर गये हैं। इसके पहले तो प्रेम-वैचित्त्यके कारण वे वियोगका अनुभव कर रही थीं।

यह अत्यन्त ऊँचे स्तरके प्रेमकी बात है, जिसका विकास श्रीप्रियाजीमें ही होता है। हमलोग तो केवल एक अत्यन्त निम्नस्तरमें भी जा पहुँचें तो जगत्‌की सभी पारमार्थिक स्थितियाँ उसके सामने फीकी हो जायँ।

दो प्रकारकी लीलाएँ होती हैं—एक सखियोंके साथ, सखियोंकी उपस्थितिमें और दूसरी केवल दोके बीचमें, जहाँ श्रीकृष्ण और श्रीराधा दो ही रहते हैं। प्रेमके ऊँचे-ऊँचे स्तरोंका विकास जब दो रहते हैं, तभी होता है। उनमेंसे कुछका आस्वाद अर्थात् दर्शन मञ्जरियोंको, दासियोंको, सहेलियोंको, सखियोंको—निकुञ्जछिद्रोंसे होता है और कुछका तो बिलकुल ही नहीं होता।

ऐश्वर्य, गुण-ज्ञान आदि समस्त भगवत्ता राधारानीमें ज्यों-की-त्यों रहती है, पर मुग्धताका इतना सुन्दर आवरण वे अपनी इच्छासे ही धारण किये रहती हैं कि लीला अनुपम—सर्वथा सब ओरसे अनुपम हो जाती है।

६०—जीवनका एकमात्र उद्देश्य श्रीकृष्णकी प्राप्ति बनाकर जबतक मनसे अधिक-से-अधिक श्रीकृष्ण-चिन्तन नहीं होता, तबतक प्रेमी भक्तोंके प्रति आकर्षण तेजीसे बढ़ना कठिन है। आवश्यकता है केवल इसी बातकी—जिस किसी भी प्रकारसे मनमें श्रीकृष्णके गुणोंकी, लीलाकी, नामकी मधुर-मधुर स्मृति बनी ही रहे। बस, इसी बातकी चेष्टा करें, इसीमें जीवनका साफल्य है और ऐसा करनेसे ही रास्ता तय होगा।

आँखोंके सामने आप यह स्थान देख रहे हैं, पाल तना दीख पड़ रहा है, पर यहींपर दिव्य सच्चिदानन्दमय वृन्दावन-राज्य है, यहींपर श्रीकृष्ण हैं और समस्त लीला ठीक यहींपर चल रही है। मनसे चिन्तन कीजिये—'संध्याका समय है। वनसे श्रीकृष्ण गायें चराकर लौट रहे हैं। आगे गायोंकी कतार है, गायें हुमग-हुमगकर श्रीकृष्णके पास जाना चाहती हैं। पीछे भी गायोंकी कतार है। बीचमें भगवान् अत्यन्त मधुर स्वरसे वंशी बजा रहे हैं। ध्वनिकी मधुरताके कारण गायोंमें भी एक

अत्यन्त शान्ति-सी बीच-बीचमें आ जाती है। श्रीकृष्ण पीताम्बर पहने हुए हैं। घुँघराले केश मन्द-मन्द हवाके झोंकोंसे ललाटपर आ जाते हैं। उन्हें वे बायें हाथसे हटा देते हैं। सड़कके किनारे श्रीगोपीजनोंकी कतार लगी हुई है। श्रीकृष्ण अपने बालोंको हटाकर कभी किनारेकी ओर, कभी पीछेकी ओर ताक देते हैं, मुसकरा देते हैं। थोड़ा आगे बढ़ते हैं, गायें भी आगे बढ़ती हैं। ग्वालबाल कभी उनके पीछे हो जाते हैं, कभी आगे....' इस प्रकार मनको कभी गायमें, कभी ग्वालबालमें, कभी श्रीकृष्णमें, कभी श्रीकृष्णके मुकुटमें, कभी उनकी घुँघराली अलकोंमें, कभी वंशीमें, कभी चरणोंमें, कभी वृन्दावनके कदम्बके पेड़में, कभी आमके पेड़में और कभी अमरूदके पेड़में स्थिर करनेकी चेष्टा करें। मनको मुकुट देखनेमें लगाया और फिर आसानीसे जितनी देर वह टिक सके उतनी देर उसे टिकाकर, जब हटने लगे तो उनके किसी दूसरे अङ्गमें लगा लें, फिर वहाँसे उचटे तो तीसरे अङ्गमें लगाते रहिये। वन, नदी, पर्वत, गाय, सड़क, गोपी, ग्वाल-बाल, आम, अमरूद, छीके, डंडे, बाँसुरी—ऐसी अनन्त चीजें हैं, जिनमें चाहियेगा तो मन लगा सकते हैं। बस, मनको फुरसत मत दीजिये। जीभ तो मशीनकी तरह नाम लेती रहे और मन वृन्दावनके किसी भी पदार्थका चिन्तन ही करता रहे। बहुत जरूरी हो तभी मनको बाहर लाइये। नहीं तो, अन्तर्मुख रहकर प्रत्येक वृत्तिको वृन्दावनीय किसी भी पदार्थमें तदाकार करते रहिये। अभ्यास करनेसे होगा, खूब आसानीसे होने लगेगा। सब भूलकर इसकी चेष्टा कीजिये; नहीं करेंगे तो फिर कोई उपाय नहीं है।

जहाँ भीत दीखती है, मकान दीखते हैं, टीले दीखते हैं, कुँआ दीखता है, पेड़ दीखते हैं, वहाँ आँख मूँदकर एक बार खूब दृढ़तासे निश्चय कीजिये—'ओह! यहाँ तो वृन्दावन है; बस, वे पेड़, वे दृश्य

हैं। बस, सामने श्रीकृष्ण हैं, गायें हैं, बस-बस यही है। इस प्रकार जितनी लीलाएँ पढ़ी हैं, सुनी हैं, जितनी सुनेंगे, पढ़ेंगे, उनमेंसे जिसकी ओर मन टने, उसीमें रम जाइये। तभी रास्ता तय होगा। मनको तन्मय करना पड़ेगा ही, चाहे कैसे भी करें। उनकी कृपाका आश्रय लेकर करें तो कुछ भी असम्भव नहीं।

घबराना नहीं चाहिये। जिनकी अनन्त कृपासे मनमें धुँधली लालसा पैदा हुई है, उनकी कृपा निश्चय ही आगे भी बढ़ा ले जायगी। जल्दी या देरी, पहुँचना तो है ही। राधा! राधा! राधा!

अभ्याससे सफलता मिलेगी ही। नाम तो खूब जल्दी सध जायगा। हाँ, मनको खास स्वरूपकी ओर अथवा लीलाकी ओर लगाकर दूसरा काम करनेमें विशेष गाढ़े अभ्यासकी आवश्यकता है। बीच-बीचमें जल्दी-जल्दी स्मृति तो थोड़े ही अभ्याससे सम्भव है।

६१—छिनहिं छिन सुरति होति री माई।

बोलनि मिलनि चलनि हँसि चितवनि प्रीति रीति चतुराई॥
साँझ समय गोधन सँग आवनि परम मनोहरताई।
रूप सुधा आनंद सिंधुमें झलमलात तरुनाई॥
अंग अंग प्रति मैंने सैन सजि धीरज देत छुड़ाई।
उड़ि उड़ि लगत दृगनि टोना सो जगमोहनी कन्हाई॥
मरियत सोचि सोचि बिन बातनि हौं बन गहन भुलाई।
बल्लभ औचक आय मंद हँसि गहि भुज कंठ लगाई॥

पद्यका भावार्थ यह है—श्रीगोपी अथवा श्रीराधाजी कहती हैं—'सखि! बार-बार स्मृति हो रही है। वह बोलना, मिलना, चलना, मुसकाते हुए देखना, प्रीतिकी रीति, प्यारभरी चतुरता बार-बार याद आ जाती है। संध्याके समय श्यामसुन्दर गायोंके साथ आते थे, उस समय

उनकी मनोहर छबि देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो सुन्दरता-रूपी आनन्दमय-अमृतमय समुद्र लहरा रहा हो और तरुणता (किशोरावस्था) रूपी तरङ्गें उसमें झलमल-झलमल कर रही हों। श्यामसुन्दरका एक-एक अङ्ग क्या था, मानो कामदेवकी सेना हो। धीरज बरबस छूट जाता था। आँखोंपर किसी अङ्गकी छबि पड़ते ही मालूम पड़ता था मानो श्यामसुन्दर-रूप जादूगरने टोना फेंका हो। समस्त जगत्‌को मोहनेवाले कन्हाई अपने अङ्गोंकी छबिका टोना फेंककर हमें मोहित कर लेते थे। एक दिन मैं वनमें, गहन वनमें भूल गयी थी—उन प्रसङ्गोंकी याद कर-करके मृत्युका-सा दुःख होता है। इतनेमें ही अचानक श्यामसुन्दर आये और मन्द-मन्द मुसकाकर मेरी भुजाओंको पकड़कर मुझे कण्ठसे लगा लिया।'

पदके इन भावोंपर एकान्तमें बैठकर विचार कीजिये। विचार करते समय मनमें एक रसकी धारा बह उठेगी। आप उसमें न जाने कहाँ-से-कहाँ बह जायँगे।

६२—सभी प्रेममयी लीला तथा सभी ऐश्वर्यमयी लीला, समस्त लीलाओंका आधार भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी ही हैं। श्रीकृष्ण लीलाका आस्वाद लेते हैं और श्रीराधाजी लीलाका आस्वाद कराती हैं। ऐश्वर्यमयी लीलाके भी जैसे अनन्त स्तर हैं, वैसे ही प्रेममयी लीलाके भी अनन्त स्तर हैं। व्रजलीलामें ग्वालबालोंके साथ जो लीला होती है, श्रीगोपीजनोंके साथ जो लीला होती है तथा श्रीराधाजीके साथ—केवल एक श्रीराधाजीके साथ जो लीला होती है, इन तीनोंमें बड़ा अन्तर होता है।

इन तीनों लीलाओंमें भी कई स्तर हैं। इन स्तरोंका अनुभव प्रेमी साधककी साधनापर ही निर्भर रहता है। जो जितना ऊँचा होता है, वह

उतने ही ऊँचे स्तरका अनुभव करता है। इन तीन लीलाओंमें जो गोप—ग्वाल-बालके सङ्गकी लीला है, उसका अनुभव तो कुछ भाग्यवान् संत कर पाते हैं, यद्यपि उनकी संख्या भी बहुत कम ही है। पर श्रीगोपीजनोंके साथकी लीलाका अनुभव करनेवाले संत तो बहुत ही थोड़े होते हैं। तथा श्रीराधाजीके साथ जो लीला होती है, उस लीलाका अनुभव करनेवाले तो इने-गिने कुछ बिरले ही होते हैं। बात कर लेना आसान है। शास्त्र पढ़कर हम बहुत-सी बातें, लोगोंको चकित कर देनेवाली बातें बता सकते हैं; परंतु सचमुच इन लीलाओंका दर्शन होकर कृतार्थ होनेका सौभाग्य, इनमें स्वयं सम्मिलित होकर कृतार्थ होनेका सौभाग्य तो श्रीराधारानीकी, श्रीकृष्णकी महान् कृपासे किसी-किसीको ही होता है। जहाँ समस्त परमार्थ-साधना एवं साध्यतत्त्व समाप्त हो जाता है, वहाँ इस लीला-तत्त्वका श्रीगणेश होता है। पर यह बात दिमागमें तबतक नहीं आ सकती, जबतक कि भगवत्कृपासे अन्तःकरण सर्वथा निर्मल होकर कृपाके ही परायण नहीं हो जाता।

वेदान्तकी सच्ची साधना यदि हो और सचमुच हम ब्रह्मप्राप्तिकी स्थिति प्राप्त कर सकें तथा इसके बाद वस्तुतः आगे जो एक रहस्यमय अनिर्वचनीय सच्चिदानन्दमय साधनाका मार्ग है, वह आरम्भ हो, तब कहीं सम्भव है कि मनुष्य असली सगुण-तत्त्वका रहस्य समझ सके। नहीं तो, होता क्या है कि दुःखकी निवृत्ति हो जाती है, ब्रह्मानन्दकी अनुभूति हो जाती है। पर इससे भी परे कुछ ऐसी रहस्यमयी बातें हैं, ऐसा अनिर्वचनीय कुछ भगवत्तत्त्व है, जो सर्वथा किसी भी साधनाके द्वारा नहीं समझा जा सकता। उस स्थितिकी प्राप्ति सभी ब्रह्मप्राप्त पुरुषोंको भी हो ही, यह निश्चित नियम नहीं है। हो भी सकती है नहीं भी।

ये सब उलटी-सीधी बातें—शास्त्रीय ज्ञान, तत्त्वज्ञानकी चर्चा आदि तो मनुष्य उसी क्षण भूल जाय, यदि स्वप्नमें भी उसे एक हलकी-सी श्रीकृष्णके रूपकी झाँकी देखनेको मिल जाय। वह जबतक नहीं मिलती, तभीतक सारी बहस, सारी उधेड़-बुन है। नारायण-स्वामी थे—एक बार वे बैठे हुए थे, सामने श्रीकृष्ण दीखे। वे लगे दौड़ने। दौड़ते-दौड़ते कुसुम-सरोवरपर जा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर देखा—श्रीकृष्ण पीठकी ओर आ गये। फिर पीछे दौड़, दौड़ते-दौड़ते अपने स्थानपर आ गये। इसी प्रकार दिनभर दौड़ते देखकर पुजारीने पूछा—'बाबा! क्यों दौड़ते हो?' उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। बहुत आग्रह करनेपर बोले—'भैया! श्रीकृष्ण दीखते हैं, दीखनेपर ऐसी इच्छा होती है कि पकड़कर इनके हृदयमें समा जाऊँ; पर वे भागने लगते हैं। मैं भी दौड़ने लगता हूँ। दौड़ते-दौड़ते जब थक जाता हूँ तब वे पीछे दीखने लग जाते हैं। मैं फिर पीछेकी ओर दौड़ने लगता हूँ। सारे दिन यही लीला चलती रहती है।' पुजारीने पूछा—'बाबा! उनसे कुछ पूछते नहीं?' स्वामीजीने कहा—'पहले तो बहुत-सी बातें याद रहती हैं और सोचता हूँ—यह बात पूछूँगा, यह शास्त्रीय बात जान लूँगा, पर रूप देखते ही सब भूल जाता हूँ। बस, देखते ही रह जानेकी इच्छा छोड़कर बाकी सब भूल जाता हूँ।'

६३—श्रीकृष्ण श्रीगोपीजनोंसे कुरुक्षेत्रमें मिलनेपर कहते हैं—'गोपियो! तुमने हमें कृतघ्न समझा होगा; क्या करें' कामकाजकी भीड़में लग गये। देखो, ईश्वर ही प्राणियोंका संयोग करता है और वही पुनः वियोग कराता है।......सौभाग्यकी बात है कि 'हमारे प्रति तुमलोगोंका प्रेम निश्चल रहा।' बस, यह प्रेम ही सचमुच सार है। इस प्रकारका श्रीमद्भागवतमें वर्णित है। पर वास्तवमें श्रीकृष्ण गोपीजनोंसे

हटकर भी नहीं हटे थे, श्रीकृष्ण हटते ही नहीं। उद्धवजीके ज्ञानका गर्व शान्त होनेपर जब वे श्रीकृष्णके पास लौटे हैं, उस समयका बड़ा ही सुन्दर वर्णन नन्ददासजीने किया है—

गोपी गुन गावन लग्यौ मोहन गुन गयौ भूलि।

× × × ×

करुणामयी रसिकता है तुम्हरी सब झूठी।
जब ही लौं नहिं लख्यौ तबहि लौं बाँधी मूठी॥
मैं जान्यौ ब्रज जाय कै तुम्हरौ निर्दय रूप।
जे तुम कौं अवलंबहीं तिन कौं मेलौ कूप॥
कौन यह धर्म है।
पुनि पुनि कहै अहो स्याम! जाय वृंदावन रहिये।
परम प्रेम कौ पुंज जहाँ गोपिन सँग लहिये॥
और काम सब छाँड़ि कै उन लोगन सुख देहु।
नातरु टूट्यौ जात है अबहीं नेहु सनेहु॥
करौगे फिरि कहा।
सुनत सखा के बैन नैन भरि आए दोऊ।
बिबस प्रेम आबेस रही नाहीं सुधि कोऊ॥
रोम रोम प्रति गोपिका है रहि साँवर गात।
कल्पतरोरुह साँवरौ ब्रजबनिता भईं पात॥
उलहि अँग-अँग ते।
है सचेत कहि भले सखा! पठए सुधि ल्यावन।
अवगुन हमरे आइ तहाँ ते लगे बतावन॥
मोमें उन में अंतरौ एकौ छिन भरि नाहिं।
ज्यौं देखौ मो माहिं वे त्यों हौं उनहीं माहिं॥
तरंगनि वारि ज्यों।

गोपी रूप दिखाय तबै मोहन बनवारी।
ऊधौ भ्रमहि निवारि डारि मुख मोह की जारी॥
अपनो रूप दिखाय पुनि गोपी रूप दुराय।
'नंददास' पावन भये जो यह लीला गाय॥
प्रेम रस पुंजनी।

श्रीकृष्ण ही श्रीराधा हैं, श्रीगोपियाँ हैं। श्रीराधा, श्रीगोपियाँ ही श्रीकृष्ण हैं। पर वियोगके बिना प्रेमका विकास नहीं होता—यह दिखानेके लिये जगत्के साधकोंको कृतार्थ करनेके लिये, प्रेमसाधनाकी पद्धति सिखानेके लिये वियोगका अभिनयमात्र किया गया था।

व्रजमें आज भी लीला चलती रहती है, नित्य रसमयी लीलाका प्रवाह अनादि कालसे चलता आ रहा है, अनन्त कालतक चलता रहेगा। साधक जब उस लीलामें प्रवेश करता है, तब पहले कुछ दिन वहाँ नित्य सखियोंके सङ्गमें रहकर पकाया जाता है। वही हिलगकी स्थिति है। इसके बाद जब व्याकुलता चरम सीमाको पहुँच जाती है, तब रासमें सर्वप्रथम मिलन होकर—अनन्त कालके लिये स्वयं भी सेवामें अधिकार पाकर निहाल हो जाता है यह एक साधारण नियम है। यों तो कृष्ण जो चाहें, वही नियम साधकके लिये बन जायगा। प्रेममें त्याग ही-त्याग है। जिसके जीवनमें एकमात्र श्रीकृष्ण ही साध्य-साधन हैं, उसीके लिये यह पथ है, दूसरेके लिये इसकी गुंजाइश नहीं है। पतिव्रताकी तरह उसे बाट देखनी पड़ती है कि पतिका संदेशा लेकर कौन आता है, स्वयं चलकर दूतकी तलाशमें पतिव्रता नहीं जाती। स्वामीका दूत ही पतिव्रताके पास आता है। उसी प्रकार साधक श्रीकृष्णका नाम लेकर निरन्तर आँसू बहाता रहता है और श्रीकृष्णकी ओरसे समयोचित—अधिकारोचित चेष्टा होती है।

मनमें तीव्र लगन, तीव्र चाह, उत्कण्ठाकी तीव्र आग है; पर बाहर किससे कहे ? साधक समझता है—'मेरे नाथ ! तुम्हें ज्ञात है, तुम्हारे पास साधन है, तुम चाहो तो आ सकते हो, पर मैं चलकर भी तुम्हारे पास नहीं पहुँच सकता। मेरे जीवनधन ! अनन्त जीवनकी चाह लेकर बैठा हूँ, कृपाकी डोरीको स्वयं कृपा करके पकड़ा दो। अंधा हूँ, पथ नहीं जानता। मेरे प्रियतम ! जिस पथसे चलना चाहता हूँ, उसमें कोई साथी नहीं। तुम्हारे सिवा अवलम्बन नहीं, एकमात्र तुम्हीं सम्हाल सकते हो। सम्हाल लो, नाथ ! ऐसी प्रार्थना हो, निरन्तर मशीनकी तरह नाम मुँहसे निकलता रहे तथा मन लीलाकी तरङ्गोंमें डूबता-उतराता रहे—यही करना चाहिये।

आप सायंकाल ज्योनारमें बैठे रह सकते हैं, पर मनसे अपनेको बरसानेके सरोवरपर रख सकते हैं, देख सकते हैं। वहाँ श्रीराधारानी हैं, ललिता हैं, श्रीकृष्ण हैं, मधुर वंशी बज रही है। सब हो सकता है; पर चलना होगा आपको ही, इसकी तैयारी करनी पड़ेगी आपको ही। सारा प्रपञ्च, सारा व्यवहार इसीके अनुकूल होनेपर ही स्वीकार्य है; अन्यथा तुरंत सबकी आहुति देनेके लिये सच्ची लगन रखनी पड़ेगी। मित्र रहेंगे, परिवार रहेगा, माँ रहेगी, पुत्र रहेंगे; आपके सिरपर पगड़ी, टोपी, बदनपर कोट भी ऐसा ही रहेगा, पर मनमें एक विलक्षण व्याकुलताकी आग जलती रहेगी। यह जलन बढ़ती ही चली जायगी। 'कैसे श्रीकृष्ण-चरणोंमें न्योछावर हो जाऊँ, क्या करूँ, कैसे करूँ' ? एकान्तमें बैठकर रो पड़ियेगा। यह होगा उनकी कृपासे ही; पर उसके पहले आप भावना कीजिये, उनकी कृपा अनन्त है। कृपाको ग्रहण करते चले जाइये। ***'प्रेमगली अति साँकरी, तामें द्वै न समाय।'***

६४—यहाँ आप जो वन, पर्वत, नदी, झरने, स्त्री, पुरुष, हिरन,

गाय, पक्षी, महल, सड़क देखते हैं, जो कुछ भी स्त्री-पुरुषोंमें, पिता-पुत्रमें, मित्र-मित्रमें प्रेमका भाव देखते हैं, इन्हें देखकर उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी कुछ कल्पना की जाती है। पर वास्तवमें वह राज्य नहीं है, ऐसी बात नहीं है। बल्कि उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी उन-उन चीजोंके आधारपर ही ये चीजें भी कल्पित हुई हैं, उसके आधारपर ही चीजें हैं, उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी छाया-जैसी हैं। समझने-समझानेके लिये कोई दृष्टान्त ही नहीं है। एक दिन सोच रहा था कैसे समझाऊँ ? पासमें कमण्डलु पड़ा था, सूर्यकी किरणोंमें उसकी छाया पड़ रही थी। मैंने कमण्डलुको घुमाना शुरू किया। विचित्र-सी छाया बनती गयी। उस छायाको देखकर कभी तो यह अनुमान हो सकता था कि कमण्डलु इस छायाका आधार है; पर कभी-कभी तो यह पता ही नहीं लग सकता था कि ऐसी छायाका आधार भी कमण्डलु हो सकता है। कुछ ऐसे ही यहाँ भी समझ सकते हैं। यहाँ जो कुछ दीख रहा है—पहाड़, नदी, वन, सूर्य, चन्द्र, गाय, सरोवर, बर्तन, साड़ी, डंडा, स्त्री-पुरुषका ढाँचा, आपसमें प्रेमका व्यवहार—सब-की-सब चीजें उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी नकल हैं। इन सबका आधार वह सच्चिदानन्दमय राज्य ही है। पर वह दिव्य राज्य त्रिगुणात्मक मायाके आवरणके अन्तरालसे प्रतिभाषित होकर विकृत हो जाता है। जहाँ आपको ये चीजें दीखती हैं, वहींपर महान् अनिर्वचनीय दिव्य सच्चिदानन्दमय वृन्दावन है। पर अभी तो उसकी कल्पना सर्वथा असम्भव है। हाँ, इनको न देखकर इसके आधारपर दृष्टि डालते ही, मन टिकाते ही, इस भ्रान्तिमय छाया-स्वरूप राज्यकी निवृत्ति हो जायगी; फिर वह चीज देखनेको मिलेगी, जो सर्वथा सब ओरसे विकारहीन सच्चिदानन्दमय है।

सच्चे वेदान्ती तो साधना करके सत्तास्वरूप सच्चिदानन्दमय राज्यमें विलीन हो जाते हैं। पर जो लड़ने-झगड़नेवाले हैं, उन्हें यह समझना ही कठिन है कि ऐसी भ्रान्ति इस रूपमें क्यों होती है। उनकी बुद्धि यह समझ ही नहीं सकती कि ठीक इस भ्रान्तिके अन्तरालमें कुछ-न-कुछ ऐसी ही, ज्यों-की-त्यों चीज है, जिसके कारण यह भ्रान्ति है।

यहाँ आप पदोंमें सुनते हैं—श्रीकृष्ण गोपियोंको छेड़ते हैं, किसीका हाथ पकड़ लेते हैं। अब ये चेष्टाएँ यद्यपि हैं ठीक ऐसी ही, पर ऐसी होकर भी ये लौकिक नहीं, परम दिव्य हैं, सर्वथा चित्-आनन्दसे सब ओरसे ओतप्रोत हैं। उन्हें बुद्धिसे समझा ही नहीं जा सकता। उनका तो कोई बिरले भाग्यवान् महात्मा ही अनुभव करते हैं। अनुभवके पहले तो इन लीला-प्रसङ्गोंमें यहाँकी विकारमयी चीजोंके विकारमय भावोंका ही अधिकांश आरोप हो जाता है। महात्मालोग ऐसी लीलाको चीनीके तूँबेसे उपमा देते हैं। चीनीका बनाया हुआ तूँबा देखकर कोई भी समझ नहीं सकता कि यह कड़वे तूँबेके अतिरिक्त कोई और चीज है। वह उसकी कटुताकी ही कल्पना सर्वथा करता है। ऐसी ही उस लीलाकी अत्यन्त माधुर्यमयी, सच्चिदानन्दमयी बातें भी अनधिकारियोंके द्वारा विकृत हो जाती हैं। सर्वथा श्रीकृष्णकी कृपासे जो साधनामें प्रवृत्त होता है, वही अनुभव करके निहाल होता है, अन्यथा कोई भी उपाय नहीं है। खूब सोच लें, यह दृढ़ सिद्धान्त मान लें—समस्त जागतिक आसक्ति मिटाकर, समस्त आश्रय त्यागकर श्रीकृष्णको पकड़ना होगा, केवल तभी इस लीलाका उन्मेष सम्भव है। नहीं तो ब्रह्म-प्राप्त पुरुषोंमें भी इसका उन्मेष हो ही, यह नियम नहीं है।

६५—जितनी चीजें आप देखते हैं, जो आपको प्यारी लगती हैं, जो

भाव आपको प्यारा लगता है, यहाँ इस राज्यके सम्बन्धसे तोड़कर उसे दिव्य राज्यसे जोड़ दीजिये। सुन्दर-से-सुन्दर बगीचा देखा है, कुञ्ज देखी है, उसीके आधारपर उसमें दिव्यताका भाव करके, उसका वृन्दावन-कुञ्जके रूपमें चिन्तन कीजिये। आपके मनमें बढ़िया-से-बढ़िया घड़ेकी जो कल्पना हो, उसका मानसिक चित्र खींचकर उससे श्रीकृष्णका हाथ धुलाना है—यह समझकर उस कलशेका ध्यान कीजिये। इसी प्रकार जिस लीलाका भी वर्णन पढ़ते हैं, उसके प्रत्येक वाक्यमें एक-एक, दो-दो चीजोंका उल्लेख मिलेगा, जिन्हें आपने देखा है। बस, उन्हींका चिन्तन कीजिये। एकसे मन उचटते ही दूसरेसे जोड़ दीजिये। जिस प्रकारसे भी हो, मनको उसी राज्यकी किसी वस्तुसे जोड़े रहिये। फिर निश्चय मानिये कि उसीको निमित्त बनाकर श्रीकृष्णके दिव्य राज्यमें प्रवेशाधिकार मिल जायगा। मन टिकते ही इस भ्रान्तिमय राज्यकी निवृत्ति हो जायगी और फिर ठीक उसी जगह सत्य वस्तु, जो पहलेसे ही है, निरन्तर है; प्रकाशित हो जायगी। पूरी चेष्टा करके मनको इस जगत्‌से निकालकर यहींपर चलती हुई लीलामें परम रमणीयरूपमें, वृक्ष, बासन, साड़ी, पगड़ी आदिमें जोड़ दें; फिर निश्चय अभूतपूर्व शान्तिका अनुभव होगा। अभी मन दिन-रात चिन्तन करता है कलकत्ता, बम्बई, पेटी, तिजोरी, कागज, पेंसिल, गली, सड़क, यहाँके बासन, यहाँके कपड़ोंका। इनके बदले उसे वृन्दावनीय पदार्थोंमें जोड़िये। यही करना है, बस, इतना ही करना है। फिर भगवान्‌की कृपाका समुद्र उथलकर आपके सामने असली वस्तुको प्रकट कर देगा।

६६—भगवान्‌की समस्त लीलाओंका आधार (मूल) एकमात्र श्रीराधिकाजी ही हैं। ये स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति हैं। स्वरूपा शक्ति हैं। ये ही अनन्तरूप धारण करके श्रीकृष्णलीलाका

सामञ्जस्य करती हैं। श्रीराधाजीकी प्रेम-लीला इतनी ऊँची है कि वस्तुतः वे जिसे कृपा करके कुछ दिखाना चाहें वही देख सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। वे आज भी हैं और भावनाके अनुसार जैसी भी इच्छा कीजियेगा, वैसी ही उसी क्षण उस इच्छाकी पूर्ति कर सकती हैं। जो श्रीकृष्ण हैं, वे ही राधा हैं। इनमें तनिक भी, रत्तीभर भी किसी भी प्रकारका अन्तर नहीं है। एक सच्ची घटना सुनाता हूँ, व्रजमें हुई थी।

तीन महात्मा घूम रहे थे। घूमते-घूमते उनमें जो कुछ अधिक आयुके थे, वे तो थक गये। उन्होंने कहा—'भैया! अब तुमलोग जाओ; मैं तो अब यहीं आराम करूँगा।' तीनोंने दिनभर कुछ भी नहीं खाया था। अतः एक तो ठहर गये, दो आगे बढ़े। बरसाना निकट आ गया। दोनों बड़े श्रद्धालु थे। दोनोंने आपसमें सलाह करके यह निश्चित किया कि आज चलो, श्रीजीके अतिथि बनें। बात विनोदमें हुई थी; अतः उन लोगोंने फिर इसपर विचार नहीं किया। सोचा—अब रात हो गयी है, कहाँ माँगने जायँ; यहीं रातमें मन्दिरमें जो कुछ प्रसाद मिल जायगा, उसे खाकर पानी पी लेंगे। उस दिन मन्दिरमें उत्सव था। उत्सव देखनेमें लग गये। उत्सव समाप्त हुआ, लोग चले गये। करीब ग्यारह बजे मन्दिरके पुजारीजी जोर-जोरसे पुकारकर कहने लगे—'अरे, यहाँ दो आदमी श्रीजीके अतिथि कौन हैं?' इन लोगोंने आवाज सुनी, वह विनोदकी बात याद आ गयी। फिर प्रेममें निमग्न हो गये। दोनोंने कह दिया—'कोई होगा।' पश्चात् पुजारीजी इन दोनोंको ले गये और प्रसादमें जो-जो बढ़िया-से-बढ़िया चीजें थीं, भरपेट खूब प्रेमसे दोनोंको खिलायीं। इन लोगोंने प्रेममें भरकर खूब आनन्दसे प्रसाद पाया तथा पूर्ण तृप्त होकर फिर एक छतरीमें जाकर सो रहे, जो वह वहाँसे दूर, कुछ ही दूर हटकर थी। सोनेके बाद

दोनोंको एक ही समय एक ही स्वप्न आया। दोनोंने देखा एक अत्यन्त सुन्दर बारह वर्षकी बालिका आयी है और पूछ रही है—'क्यों, तुमलोगोंने भरपेट भोजन तो किया? हमारे अतिथि हो न?' उन लोगोंने स्वप्नमें ही कहा—'खूब छककर खाया।' बालिका बोली—'पर आज प्रसादमें खूब बढ़िया पान था, पुजारी वह देना भूल गया। वही पान लेकर मैं आयी हूँ।' यह कहकर उसने दोनोंके पास दो-दो खिल्लियाँ पानकी रख दीं। उसी समय दोनोंकी नींद खुल गयी। उठकर देखा तो सिरहाने दो-दो बीड़े पानके रखे हुए हैं। दोनों रोने लगे, प्रेमसे व्याकुल हो गये। पानका बीड़ा मुँहमें रखकर प्रेममें अधीर हो गये। दोनोंने अपना स्वप्न एक दूसरेको सुनाया—एक ही समयमें दोनोंको एक ही स्वप्न हुआ था।

यह सच्ची घटना है और जिनको ऐसा अनुभव हुआ है, वे शायद जीवित हैं। बात इतनी ही है कि श्रीराधारानी, श्रीकृष्ण केवल विश्वास देखते हैं, फिर जैसे भरपेट भोजन देकर उनको अतिथिके रूपमें स्वीकार कर लिया, वैसे ही सच्चे विश्वासके साथ उनका दर्शन चाहनेवाले, उनकी लीलाको देखकर कृतार्थ होनेकी इच्छा रखनेवालेको वे अतिथि बनाकर उसका वैसा ही अतिथिसत्कार कर सकते हैं। उनके लिये सभी समान हैं, किसीके प्रति भेदभाव नहीं है। अतः आप यदि अनन्य मनसे आतुर होकर श्रीकृष्णसे, श्रीराधारानीसे चाहें कि बस, आपका निरन्तर चिन्तन हो, निरन्तर आपकी लीला सुननेको मिले, तो सच मानिये, देरका काम नहीं है। अवश्य इस प्रार्थनाको वे सुनेंगे। पर प्रार्थना सच्ची हो तब। जबतक आपकी प्रार्थना सच्ची न हो, तबतक झूठे ही मनसे बार-बार कहते रहिये। झूठी प्रार्थनाको भी वे कृपा करके समयपर सच्ची बना देते हैं।

आपकी यह चाह बड़ी उत्तम है कि निरन्तर श्रीकृष्णका स्मरण बना रहे और लीला सुननेको मिले। यह बहुत ही उत्तम चाह है। बस, चाहते चले जाइये, झूठी-सच्ची जैसी भी चाह हो—चाहते ही चले जाइये। चाह बनी रहेगी तो वह कभी सच्ची भी हो जायगी और किसी-न-किसी दिन पूर्ण कृपाका प्रकाश होगा ही।

६७—श्रीगोपियाँ उद्धवजीसे कहती हैं—

नाहिन रह्यो हिय मैं ठौर।
नंदनंदन अछत कैसैं आनिये उर और॥
चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात।
हृदय ते वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात॥
कहत कथा अनेक ऊधौ लोक-लाज दिखात।
कहा करौं तन प्रेम पूरन घट न सिंधु समात॥
स्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदु हास।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

इस पदके आधारपर ऐसी भावना कीजिये कि सचमुच सामने उद्धव-लीला हो रही है तथा एक प्रेम-रसनिमग्ना व्रज-सुन्दरी कह रही है—'उद्धव! क्या करूँ, तुम्हारी बात ठीक है, पर हृदयमें जगह ही नहीं—दूसरी वस्तुको, दूसरी चर्चाको कहाँ रखूँ? हृदयको तुम देख लो; इसमें तो केवल श्यामसुन्दर-ही-श्यामसुन्दर भरे हैं। मैं चाहूँ, तो भी क्या करूँ, जब कि जगह ही नहीं बच रही है। उद्धव! तुम्हीं बताओ, प्रियतम प्राणनाथ श्यामसुन्दरको छोड़कर उनकी जगह दूसरे किसीको कैसे बैठाऊँ? मेरे श्यामसुन्दरने मेरे हृदयको चारों ओरसे घेरकर छा लिया है, उनके रहते हृदयमें दूसरेको कैसे बैठाऊँ? नहीं-नहीं, उद्धव! असम्भव है। प्राण भले ही चले जायँ, पर अब इस

हृदयमें दूसरेका प्रवेश नहीं हो सकता, यहाँ तो बस, नित्य-निरन्तर श्यामसुन्दर ही रहेंगे।

'उद्धव! तुम्हें विश्वास नहीं होगा—वह मूर्ति, प्यारे श्यामसुन्दरकी मूर्ति कभी एक क्षणके लिये भी हृदयसे नहीं हटती। मैं चलती हूँ, उस समय भी श्यामसुन्दरकी छबि मेरे हृदयमें रहती है। मैं जिस क्षण अपनी दृष्टिको बाहर किसी और पदार्थकी ओर ले जाती हूँ तो देखती हूँ, वहाँ भी मेरे श्यामसुन्दरकी छबि है, हृदयमें भी, बाहर भी केवल श्यामसुन्दर ही दीखते हैं। दिनभर जबतक जागती रहती हूँ, तबतक श्यामसुन्दर, एकमात्र श्यामसुन्दर ही नजरोंके सामने रहते हैं। रातमें जिस क्षण सोनेकी चेष्टा करती हूँ, आँखें मूँदती हूँ, उस समय भी श्यामसुन्दरका तिरछी चितवनयुक्त मुखारविन्द सामने रहता है। स्वप्न देखने लगती हूँ, देखती हूँ—श्यामसुन्दर आये हैं, मेरे सामने खड़े हैं, मेरी ओर तिरछी चितवनसे देख रहे हैं। मैं पकड़ने दौड़ती हूँ, वे पीछे हटने लग जाते हैं; मैं सहम जाती हूँ, वे भी खड़े हो जाते हैं। फिर पकड़नेके लिये दौड़ती हूँ, फिर भागने लगते हैं। इस प्रकार उनको न पकड़ पानेपर मैं जब रोने लगती हूँ, तब बस, हँसते हुए आकर मुझे हृदयसे लगा लेते हैं। आँखें खुल जाती हैं—मैं देखती हूँ, विचार करती हूँ, स्वप्न था; पर फिर सामने देखती हूँ—नहीं, नहीं, वे तो सामने खड़े हैं, ये हैं, ये हैं। इस प्रकार उद्धव! एक क्षणके लिये भी श्यामसुन्दरकी वह घुँघराली अलकोंवाली छबि मेरे मनसे नहीं हटती। उद्धव! एक क्षणके लिये भी प्यारे श्यामसुन्दरके सिवा और कोई वस्तु नजर ही नहीं आती। नाराज मत होना—तुम श्यामसुन्दरके प्यारे सखा हो, तुम्हारी बात मैं नहीं सुन पा रही हूँ, पर न सुननेके लिये लाचार हो गयी हूँ। उद्धव! कोई उपाय नहीं रह गया है। उद्धव! न जाने

श्यामसुन्दरने तुम्हें सिखाकर भेजा है या तुम अपने मनसे ही इस योगकी बात सुना रहे हो; पर कुछ भी हो, तुम्हीं सोचो, हम गाँवकी ग्वारिनें योग लेकर क्या करेंगी। सचमुच तुम भूलते हो, तुम ठगा गये हो; अरे, तुम जिस श्यामसुन्दरकी बात सुना रहे हो, उसके हृदयकी बात ही तुम नहीं जानते। तुम कहते हो—'श्यामसुन्दर सर्वेश्वर हैं, समस्त संसारके एकमात्र स्वामी हैं।' तुम्हें पता नहीं, वही सर्वेश्वर, वही अखिल ब्रह्माण्डनायक अपने-आपको व्रजमें आकर भूल गया। तुम्हें एक दिनकी बात सुनाती हूँ, तुम चकित रह जाओगे। विश्वास करो, उद्धव ! वे मेरे प्रियतम प्राणनाथ हैं। मेरा सब कुछ उनका है और उनका सब कुछ मेरा है। तुम्हें सुनाती हूँ—

'मथुरा जानेके कुछ ही दिनों पहले मैं उनसे रूठ गयी थी। श्यामसुन्दरके सखा ! मैं देखना चाहती थी, उस दिन हृदय खोलकर देखना चाहती थी, मेरे प्रियतम मुझे कितना प्यार करते हैं। आँखोंके सामने श्यामसुन्दर थे और मैं मुँह फेरकर बैठ गयी। वे आये, बड़े प्रेमसे मेरे हाथोंको पकड़कर बोले—'प्रियतमे ! अपराध क्षमा करना, मैंदेरसेआया; तुम मेरी प्रतीक्षामें व्याकुल थी; पर क्या करूँ ? तुम्हारा ध्यान करते-करते मैं भूल गया था कि मैं तुमसे दूर हूँ; मैं तुम्हें पास ही अनुभव कर रहा था, सब कुछ भूलकर तुम्हें ही देख रहा था। विश्वास करो, मेरी प्राणेश्वरी ! मेरे हृदयमें तुम्हारे सिवा और किसीके लिये तिलभर भी जगह नहीं; तुम मेरा जीवन हो, तुम मेरे प्राण हो, प्रिये·······'उद्धव ! अब बोला जाता नहीं, कण्ठ भर आया; अब आगे तुम्हें उस दिनकी बात नहीं सुना सकूँगी। मेरे प्यारे श्यामसुन्दरकी उस दिनकी झाँकी, उस दिनकी लीला तुम्हें अब आगे नहीं सुना सकूँगी, चाहनेपर भी तुम्हें नहीं सुना सकूँगी। नाराज मत होना, सुननेपर भी तुम

समझ नहीं सकोगे। उद्धव! उद्धव! बस, बस, इतना ही कहती हूँ कि तुम ठगे गये—मेरे प्रियतमके हृदयकी बात, हृदयका रहस्य तुम नहीं जान सके। तुम्हारे सर्वेश्वरके हृदयमें क्या-क्या है, वे इसे नहीं जानते! उद्धव! उनका हृदय ओह! क्या बताऊँ; वह तो मेरे पास है। यह देखो, देख सको तो देखो; तुम्हारा सर्वेश्वर यहाँ मेरे हृदयमें क्या कर रहा है; पर तुम अभी नहीं देख सकोगे। जाने दो, उद्धव! हम गँवारी ग्वालिनोंको मरने दो, श्यामसुन्दरका नाम ले-लेकर मर जाने दो। उद्धव! उद्धव! तुम भूलते हो—लोक-लाजको, कुलकानको, यश-अपयशको तो आजसे बहुत पहले मैं जला चुकी हूँ; सबको भस्म कर चुकी हूँ। वे सब-के-सब न जाने कभीके जलकर खाक हो गये और बह गये उस अजस्र धारामें, श्यामसुन्दरके प्रेमकी प्रबल रसधारामें। उनकी गन्ध भी नहीं बच रही है। उद्धव! यदि तुम देख सकते तो देख पाते कि मेरे हृदयमें क्या भरा है, प्यारे सखा! श्यामसुन्दरके सखाके नाते तुम मेरे भी सखा हो; पर सखा! क्या करूँ, तुम्हारी आँखें वहाँ नहीं पहुँच रही हैं। देखो, मेरे शरीरके सूखे ढाँचेके भीतर दृष्टि ले जाओ—वहाँ देखो, देखो, केवल श्यामसुन्दरका प्रेमसमुद्र लहरा रहा है, तरङ्ग-पर-तरङ्ग उठ रही है। उनमें मैं हूँ और श्यामसुन्दर हैं, दोनों ही उस असीम-अगाध प्रेम-समुद्रके अतल-तलमें डूबे हुए हैं। वहाँ और कोई नहीं है, केवल मैं हूँ और मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर! वह देखो, मैं श्यामसुन्दर बन गयी, श्यामसुन्दर···ओह, तुम नहीं देख पाते! क्या करूँ, जाने दो।

'उद्धव! उस प्रेम-समुद्रमें डूबे हुएको, बिलकुल तलमें जाकर विलीन हो जानेवालेको तुम बाहर लाना चाहते हो? प्रेमके समुद्रको तुम घड़ेमें अँटाकर रखना चाहते हो? सोचो, कितनी भूल कर रहे हो,

देखो, उद्धव ! तुम चाहो, मैं चाहूँ तो भी समुद्र घड़ेमें नहीं समा सकता ! अरे, मैं पगली हो गयी हूँ—क्या कहते-कहते क्या कह जाती हूँ। मैं भूल गयी, उद्धव ! बस, इतना ही कहना है, व्यर्थकी चर्चा हमें मत सुनाओ। हम ग्वालिनें योगकी बात, ज्ञानकी बात सुनकर क्या करेंगी ? अजी, तुम हमें ठगने आये हो ? नहीं, नहीं, उद्धव ! ठग नहीं सकोगे, तुम्हारा यह योग हमें भुला नहीं सकेगा। तुम्हारा यह ज्ञान हमें भुला नहीं सकेगा। मैं चाहूँ तो भी नहीं भूल सकती।'

'सुनो, प्यारे सखा ! बड़ी छिपी बात बतलाती हूँ। आजसे बहुत दिन पहले श्यामसुन्दर आये थे, उन्होंने मेरे इस शरीररूप घड़ेको अपने प्रेमसे भर दिया। भरकर फिर क्या किया, बताऊँ ? सुनो, चारों ओरसे स्वयं ही पहरेपर बैठ गये। कानोंको बंद करके वहाँ बैठ गये, आँखोंको बंद करके वहाँ बैठ गये, नाकके छिद्रोंको बंद करके वहाँ बैठ गये, मुँहको बंद करके वहाँ भी वे बैठ गये। और बताऊँ ? स्वयं रसरूप होकर बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, दाहिने-बायें—सब जगह पहरा देने लगे। उद्धव ! प्यारे उद्धव !! मेरे सूखे शरीरके भीतर देखो, तब पता चलेगा—देखो, श्यामसुन्दर रसरूप होकर भीतर भरे हैं। यह शरीरका घड़ा भरा है प्रेमसे, और सर्वथा सब ओरसे बंद है। इसे तुम क्षारसमुद्रमें, योगकी खारी चर्चामें डुबाना चाहते हो ? यह भी कभी सम्भव है ? उद्धव ! इस प्रयासको छोड़ दो। यह प्रेमका घट तुम्हारे योगके खारे समुद्रमें कभी डूबनेका नहीं है। यह तो डूबेगा श्यामसुन्दरके मधुर सुधामय प्रेमसमुद्रमें। स्वयं श्यामसुन्दर आयेंगे, स्वयं इसका मुँह खोलकर इसे अपनेमें मिलाकर एक कर लेंगे। प्यारे सखा ! उपाय नहीं है। लाख प्रयत्न करो, श्यामसुन्दरके हाथोंसे भरा हुआ प्रेममय घट, अमृतमय घट तुम्हारे योगके खारे समुद्रमें डूबेगा ही

नहीं। ओह ! मैं सचमुच पागल हो गयी हूँ, क्या-क्या बक रही हूँ। क्षमा करना प्यारे सखा ! मैं होशमें नहीं हूँ, यह पगलीका प्रलाप है। मेरे जले हुए—झुलसे हुए हृदयमें ज्ञान नहीं बच गया है कि मैं विचारकर तुमसे बात करूँ। कभी कुछ, कभी कुछ बकती ही चली जा रही हूँ।'

'प्यारे श्यामसुन्दरके सखा ! तुम देख नहीं पाओगे; पर यदि देख पाते तो देखते कि श्यामसुन्दर यहाँसे कभी कहीं गये ही नहीं, एक क्षणके लिये भी कहीं बाहर नहीं गये। वे यहीं हैं, सदा यहीं रहते हैं और यहीं रहेंगे। मैं रहूँगी और मेरे प्रियतम रहेंगे। अनन्त कालतक रहेंगे। अभी-अभी कलकी बात है। तुम्हें सुनाती हूँ, कल सायंकालकी बात है। मेरे प्रियतम प्राणनाथ वनसे गाय चराकर लौट रहे थे। मैं उस क्षण घरके भीतर बैठी थी, अनुभव कर रही थी कि श्यामसुन्दर तो पास ही हैं। इतनेमें वंशी बजी, चेत हुआ, सोचा, भ्रम हो गया है, श्यामसुन्दर तो गाय चराकर अभी लौट रहे हैं। मैं सुनने लगी उस मुरलीकी मधुर ध्वनिको। मेरे नाथ, मेरे प्राणबन्धु मेरा नाम ले-लेकर मुरलीमें सुर भर रहे थे। बाहर आयी, देखा—आह ! कैसी अनुपम छवि थी। नील कमलके समान सुन्दर मुखारविन्द था, श्याम मेघके समान समस्त शरीर संध्याकालीन सूर्यकी रश्मियोंमें झलमल-झलमल कर रहा था, मुखपर धूलिके कण उड़-उड़कर पड़ रहे थे, स्वेदकी कुछ बूँदें झलक रही थीं, घुँघराली अलकें बार-बार मुखपर आ जाती थीं और मेरे प्यारे श्यामसुन्दर उन अलकोंको बार-बार बायें हाथसे हटाते रहते थे। आह, उन आँखोंकी शोभा क्या बताऊँ ! तुरंतका खिला कमल उस शोभाके सामने फीका पड़ जाता था। मेरे हृदयेश्वर बार-बार तिरछी चितवन डालकर मुझे देख लेते थे। मैं देख रही थी और वे मस्तानी चालसे,

अत्यन्त मधुर चालसे चलते हुए मेरी ओर ही आ रहे थे। उद्धव ! उद्धव !! मैं मूर्च्छित होती जा रही थी, मुझपर उनकी मनोहर मुसकान जादूका काम कर रही थी। इतनेमें ही वे बिलकुल मेरे पाससे होकर निकले। मित्र ! क्या बताऊँ ? रोक न सकी मैं अपनेको; उनमें मिल जानेके लिये, अपने-आपको उनमें मिला देनेके लिये दौड़ पड़ी। वे हँसने लगे, हँसते-हँसते लोट-पोट-से होने लगे। अपने सखा सुबलको उन्होंने कुछ संकेत किया, मैं कुछ सहमी, वे कुछ हँसकर आगे बढ़े, मैं भी आगे बढ़ी। मैं और वे दोनों आमने-सामने थे। मैं झमूरेकी तरह नाच रही थी। वे आगे बढ़ते, मैं आगे बढ़ती; वे पीछे हटते, मैं पीछे हटती; वे हँसते, मैं हँसती। इस प्रकार न जाने कितनी देर हमलोग खेलते रहे। पर मैं अब अपनेको सम्हाल न सकी। मूर्च्छित होकर भूमिपर गिरने ही जा रही थी, बस गिर ही चुकी थी कि मेरे प्राणनाथ दौड़ आये और उन्होंने अपनी सुकुमार भुजाओंका सहारा देकर मुझे बैठा दिया।' पास ही मेरी सखी खड़ी थी, उसे संकेत करके उन्होंने कहा—'री ! नेक इस बावलीको सम्हाल।' उद्धव ! ·····अब आगे कुछ कहते नहीं बनता, बस उस आनन्दको व्यक्त करनेकी शक्ति नहीं। आह, उद्धव ! मेरे प्यारे सखाके·····मैं भूल गयी हूँ, अपने-आपको भी भूल जाती हूँ।

'नहीं, नहीं मित्र ! श्यामसुन्दर तो मथुरा गये हुए हैं, कल नहीं, कुछ दिन पहले ऐसी घटना हुई थी। सचमुच उद्धव ! मैं भूल गयी थी, सोच रही थी कि कल ही वह घटना घटी थी, इसलिये सुनाती गयी। पर प्यारे सखा ! प्यारे श्यामसुन्दरके सखा ! मोहनके सखा ! वह घटना रोज ठीक शाम होते ही आँखोंके सामने नाचने लगती है। ठीक-ठीक अनुभव करती हूँ, वैसे ही हो रहा है। अब कुछ होश हुआ

है, सोचती हूँ—प्राणनाथ मथुरामें हैं, मैं तो पगली हो रही हूँ, इसीलिये उन्हें पास अनुभव करती हूँ। जो हो, मित्र! वह मुखसरोज, वह श्याम मेघ-सा शरीर, वे कमलके समान नेत्र, वह मस्तानी चाल, उनकी वह मोहन मुसकान कभी भूली नहीं जाती। निरन्तर वे ही, वे ही आँखोंके सामने नाचते रहते हैं। प्यारे मित्र! श्यामसुन्दरके सखा! मेरे प्राणनाथका हृदय अत्यन्त उदार है, उसमें निष्ठुरता नामको भी नहीं है। उन्हें मेरी दशाका पता नहीं, इसीलिये वे देर कर रहे हैं। इसीलिये प्यारे उद्धव! मैं हाथ जोड़कर एक भीख माँगती हूँ, एक विनय करती हूँ—इतनी ही कृपा, बस, इतनी कृपा करना; जाकर मेरे श्यामसुन्दरसे, मेरे प्राणनाथ, मेरे हृदयेश्वरसे कह देना—आँखें तरस रही हैं, झुलसती जा रही हैं, उसी मुखसरोजको, उसी श्यामसुन्दर-शरीरको ही, कमलदल-से नेत्रोंको, उसी ललित मस्तानी चालको, उसी मन्द मुसकानको आँखें खोज रही हैं। आँखोंको बस, इतनी ही प्यास है। प्यारे उद्धव! मेरी ओरसे कह देना—बस, एक बारके लिये, एक ही बारके लिये, वही झाँकी कराकर वे फिर भले ही मथुरा चले जायँ, खूब सुखसे रहें। एक बार बस, एक बार दासीके नयनोंकी प्यास बुझाकर चले जायँ। उद्धव! इतनी ही भीख तुमसे माँगती हूँ—तुम मेरे प्राणनाथको, मेरे हृदयेश्वरको मेरे हृदयका यह संदेश सुना देना।'

६८—मन लगाना कोई बड़ी बात नहीं है। कई बार कहा जा चुका है कि यदि आप सचमुच व्रजलीलामें मन लगाना चाहेंगे तो श्रीकृष्णकी कृपासे यह इतना आसान है कि बस, चकित रह जाइयेगा। सोचिये—यमुना है, यमुनाका जल हवाके झोंकोंसे हिल रहा है, इसका बीस सेकंड चिन्तन कीजिये। फिर देखिये—सुन्दर घाट है; नीलम, पन्ने, माणिक्यसे जड़ा हुआ घाट संध्याकालीन सूर्यकी किरणोंमें

चम-चम कर रहा है, इसमें भी बीस सेकंड लगाइये। फिर देखिये—घाटकी चार सीढ़ियाँ हैं, एक, दो, तीन, चार .... इस प्रकार सीढ़ियोंको गिननेमें बीस सेकंड। फिर देखिये—घाटपर व्रजसुन्दरियाँ घड़े भर रही हैं। घड़ोंमें पानी भर रहा है, यमुनाके जलसे घड़े भर रहे हैं—इसके चिन्तनमें बीस सेकंड। फिर देखिये—व्रजसुन्दरियाँ घड़ोंको सिरपर उठा-उठाकर रख रही हैं, इस उठानेकी क्रियाको बीस सेकंडतक देखिये। फिर सोचिये, दूरपर श्रीकृष्ण खड़े हैं और गोपियाँ आपसमें उनकी ओर इशारा कर रही हैं। इस इशारेकी क्रियामें बीस सेकंड। इस प्रकार अनन्त चीजें आपको मिलेंगी, जिनमें मनको निरन्तर फँसाये रख सकते हैं। कभी कुछ, कभी कुछ, कभी कुछ। फिर होगा यह कि आपका मन ही वृन्दावन बन जायगा। वहाँ दिन-रात मधुरतम लीला चलती रहेगी। यहाँ भले ही प्रलय होता रहे, पर आपका मन मधुर वृन्दावनमें सैर करता रहेगा; किंतु चाह रखकर, लगनसे तत्परतापूर्वक करनेसे यह होगा। फिर कुछ भी हो, आपका शरीर और मन सब वृन्दावनमें हैं, आपको क्या फिक्र है? भावना दृढ़ होनेपर बड़ी सुन्दर अनुभूति होगी। दाहिने दृष्टि डालियेगा, ऐं, यहाँ तो मेंहदीकी कतार है। बायें देखियेगा, ऐं, यहाँ तो जूही-बेला खिल रहे हैं। पीछे देखियेगा—यहाँ तो यमुना लहरा रही हैं, और सामने—यहाँ तो श्रीराधाजीका महल है। यही आकाश आपको वृन्दावनका आकाश दीखेगा।

६९—जैसे संध्या होती है, बस, वैसे ही श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णसे मिलनके लिये अपने प्राणोंकी व्याकुलता लेकर अपना शृङ्गार करना प्रारम्भ करती हैं, पर उनका यह शृङ्गार कभी भी अपने सुखके लिये नहीं होता। उनके मनमें अपने सुखकी कोई वासना ही नहीं होती।

गोपीप्रेमका यही विशेषत्व है, वहाँ अपने सुखकी कामनाकी गन्ध भी नहीं है। उन प्रेमवती व्रज-सुन्दरियोंके जीवनकी समस्त चेष्टाएँ एकमात्र इसी उद्देश्यसे स्वभावतः होती हैं कि हमारे प्रियतम श्रीकृष्णको सुख पहुँचे। उन्हें चेष्टा नहीं करनी पड़ती, यह उनका स्वभाव बना हुआ है। अतः उनका अपने शरीरको सजाना भी अपने लिये बिलकुल नहीं होता। अस्तु, संध्या होते ही व्रजसुन्दरियाँ अपनेको सजाना आरम्भ करती हैं; पर यह सजाना जहाँ आरम्भ हुआ कि उसी क्षण श्रीकृष्णकी गाढ़ स्फूर्ति होकर वे इस बातको भूल जाती हैं कि मैं कहाँ हूँ, क्या कर रही हूँ। उन्हें ऐसा अनुभव होता है—यह सामने, बिलकुल मेरे सामने मेरे प्रियतम खड़े हैं, मुझसे थोड़ी ही दूरपर खड़े हैं। फिर थोड़ा बाह्यज्ञान होता है, सजाना आरम्भ करती हैं, पर सजाने जाकर अपने-आपको विचित्र बना लेती हैं। ओढ़नीको पहन लेती हैं, साड़ीको ओढ़ लेती हैं, आँखोंमें लगानेका काजल तो चरणोंमें लगा लेती हैं और चरणोंमें लगानेका महावर आँखोंमें लगा लेती हैं। कानकी बालीको नाकमें पहन लेती हैं और नाकके बुलाकको कानमें पहन लेती हैं। गलेका हार कमरमें एवं कमरकी करधनीको गलेमें धारण कर लेती हैं। इस प्रकार उनका वेष विचित्र बन जाता है—किसी दिन कैसा, किसी दिन कैसा; प्रतिदिन ही कुछ-न-कुछ गड़बड़ी हो ही जाती है। परंतु श्रीकृष्ण उनके इस भेषको देखकर अप्रसन्न होनेकी बात तो कल्पनासे भी दूर है, प्रेमानन्द-रस-सागरमें डूब जाते हैं। उनको देखकर श्रीकृष्णकी आँखोंसे विमल प्रेमकी अश्रुधारा बहने लगती है। वे अपने हाथोंसे उन गोपसुन्दरियोंके वस्त्र-आभूषण ठीक करते हैं, उन्हें यथास्थान पहना देते हैं। यह है प्रेमकी महिमा—इसमें बाहरके साज-शृङ्गारके लिये कोई स्थान नहीं है। श्रीकृष्ण तो हृदयके प्रेमका

रसास्वादन करते हैं, बाहरका रूप उनकी आस्वाद्य वस्तु नहीं है। उनकी आस्वाद्य वस्तु है—प्राणोंकी व्याकुलतासे भरा निर्मल प्रेम।

साधक साधना प्रारम्भ करता है, तब उसके मनमें यही बात—एकमात्र यही लक्ष्य रहता है कि मेरे प्रभु जिस बातसे प्रसन्न हों, वही करना है। वह पहले प्रत्येक चेष्टा भलीभाँति विचार-विचारकर करता है कि वे अधिक-से-अधिक किस बातसे प्रसन्न होते हैं। फिर यह उसका स्वभाव बनता चला जाता है। इस बातके लिये ही पहले उसकी प्रार्थना होती है—'मेरे नाथ! मैं तुम्हारे हाथोंका यन्त्र बन जाऊँ।' यह प्रारम्भमें होता है—आगे तो प्रेमीकी ऐसी दशा होती है कि उसे केवल वही जानता है।

७०—यह सिद्धान्ततः ठीक है कि महापुरुषोंको साक्षात् भगवान् मानकर उनके चरणोंमें न्योछावर होनेसे भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति बड़ी शीघ्रतासे होती है। पर किसी मनुष्य-विशेषके प्रति प्रथम तो भगवद्बुद्धि होना कठिन है; हुई भी तो वह आगे चलकर हट सकती है और इस प्रकार अपराध बननेसे उसकी उन्नति रुक सकती है; और कहीं वह आदमी, जिसमें भगवद्बुद्धि की गयी, भगवत्प्राप्त न हो (अधिकांशमें ऐसा ही होता है, भगवत्प्राप्त महात्मा तो बिरले ही होते हैं), साधकमात्र है तो उससे कोई खास लाभ नहीं होता। और यदि दम्भी हो, ऊपरसे बना-बना हुआ प्रेमी हो, तब तो निश्चय ही साधकके लिये पश्चात्ताप होनेके लिये अवकाश है। इसलिये सर्वोत्तम, सबसे श्रेष्ठ निर्भय मार्ग यह है कि भगवान्‌के चरणोंमें जीवनको समर्पित करके उनका पवित्र मधुर स्मरण, उनका प्रेममय भजन तथा सत्सङ्गमें रहकर जीवन बिताते हुए समस्त विश्वको ही अपने इष्टका रूप समझकर यथायोग्य सबकी सेवा की जाय। यही आत्मसमर्पणकी

तैयारी है। फिर पूर्ण आत्मसमर्पण तो भगवान् कराते हैं।

एक और आवश्यक प्रार्थना यह है कि जीवनमें किसीको तत्त्व-निर्णयके झगड़ेमें नहीं पड़ना चाहिये। ऐसा करनेवालोंका रास्ता प्रायः बंद-सा हो जाता है; क्योंकि वास्तविक तत्त्व तो अनिर्वचनीय है। श्रीकृष्ण, श्रीराधा, श्रीगोपीजन, उनका प्रेम और उनकी परम पवित्र लीला मन-वाणीके विषय नहीं हैं। जो भी वाणीसे कहा जाता है, शास्त्रोंमें सुननेको मिलता है, वह तो शाखा-चन्द्रन्यायकी भाँति संकेत है। भक्तको चाहिये कि वह सिद्धान्त-निर्णयके फेरमें बिलकुल न पड़कर सरल श्रद्धासे आत्मसमर्पणकी तैयारी—श्रीकृष्ण, श्रीराधा-रानीके चरणोंमें न्योछावर हो जानेकी तैयारी करे। वह केवल तैयारी ही कर सकता है; असली आत्मसमर्पण तो होगा तब, जब श्रीकृष्ण स्वयं इस आत्मसमर्पणको स्वीकार करेंगे। उसके पहले प्राणोंकी समस्त व्याकुलता लेकर तैयारी करनी होगी। कोई ज्ञानी कहे कि ब्रह्म-प्राप्ति ही सबसे ऊँची स्थिति है तो उसमें भगवद्भाव करके, प्रभु हमारी परीक्षा ले रहे हैं—यों समझकर उसे प्रणाम करके उपरत हो जाना चाहिये, भूलकर भी कभी वाद-विवाद या बहस नहीं करनी चाहिये। करने चाहिये केवल दो काम—जीभसे अखण्ड नामोच्चारण एवं मनसे अखण्ड श्रीकृष्ण-लीलाओंका चिन्तन! इसमें जो सहायक हों, उन्हें जोड़ते चले जाना चाहिये। बाधक हों, उन्हें तुरंत फेंकते जाना चाहिये।

७१—एक ही भगवान् अपनेको दो रूपोंमें बाँटकर लीलाका आस्वादन करते हैं। श्रीराधाजी श्रीकृष्ण हैं और श्रीकृष्ण ही राधिकाजी हैं। उनमें सर्वथा सब ओरसे नित्य एकत्व ही है। ऐसा होते हुए भी अनादि कालसे लीलाका आस्वादन करनेके लिये श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाके रूपमें वे नित्य सच्चिदानन्दमय, रसमय प्रेमका घनीभूतविग्रह

धारण किये हुए हैं। श्रीगोपियाँ श्रीराधाकी ही कायव्यूहरूपा हैं, अर्थात् स्वयं श्रीराधाजी ही श्रीकृष्णको लीला-रसका आस्वादन करानेके लिये अनन्त गोपीरूप धारण किये हुए हैं तथा अनादि कालसे वह सच्चिदानन्दमयी लीला—श्रीकृष्ण, श्रीराधा एवं श्रीगोपीजनकी लीला चल रही है, अनन्त कालतक चलती रहेगी। साधनाके द्वारा मनुष्य पहले इन लीलाओंका प्रत्यक्ष दर्शन करता है, फिर भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी कृपा होनेपर ही उस लीलामें स्वयं भी सम्मिलित हो जाता है। इस दुर्लभ लीलाका दर्शन किसी-किसी ज्ञानयोगीको भी ब्रह्मप्राप्तिके बाद ही होता है। पर प्रेमपंथी भक्तके लिये भगवान्की कृपासे सीधा रास्ता निकल जाता है और वह बिलकुल सीधे एक विलक्षण ढंगसे इस लीलाका दर्शन करके कृतार्थ हो जाता है। इसे इस प्रकार समझ सकते हैं।
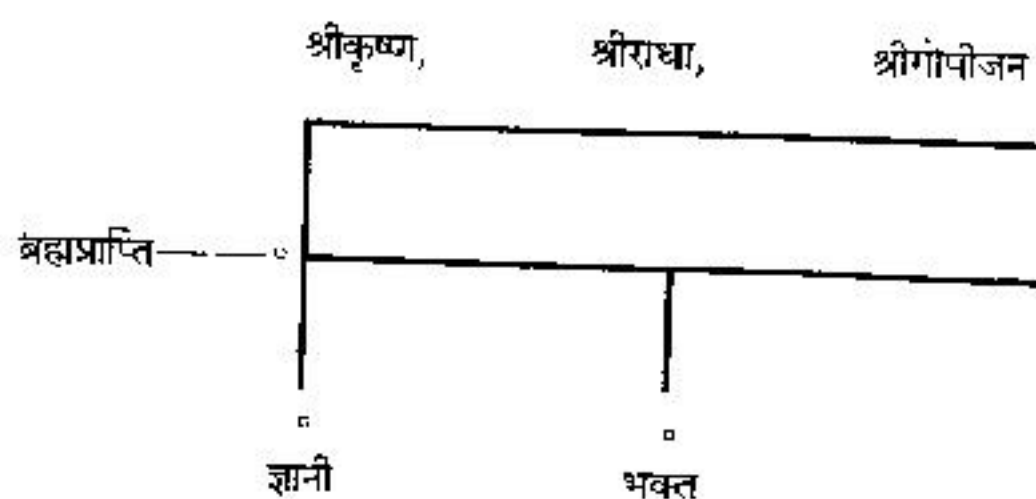
७२—श्रीराधाजी श्रीकृष्णकी आत्मा हैं, हृदय हैं अर्थात् श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा दोनों सर्वथा सब प्रकारसे एक ही हैं। लीलाके लिये दो रूपोंमें अनादि कालसे बने हुए हैं और अनन्त कालतक बने रहेंगे।

श्रीकृष्णका स्वरूप है सत्-चित्-आनन्द। सत्में संधिनीशक्ति रहती है; चित्में चितिशक्ति (ज्ञानशक्ति) रहती है तथा आनन्द-अंशमें

॥ श्रीहरिः ॥

387

प्रेम-सत्संग-सुधा-माला

गीताप्रेस, गोरखपुर

ह्लादिनीशक्ति रहती है। श्रीकृष्णकी संधिनीशक्ति ही वृन्दावनके रूपमें प्रकट होती है। चितिशक्ति योगमाया आदि हैं। ह्लादिनी श्रीराधा हैं अर्थात् श्रीकृष्ण जो सत्-चित्-आनन्द हैं, वे ही वृन्दावन-बने हुए हैं, वे ही योगमाया बने हुए हैं और वे ही श्रीराधा बने हुए हैं तथा श्रीराधा ही अनन्त गोपियाँ बनी हुई हैं। और यही सत्-चित्-आनन्दमयी लीला अनादि कालसे चल रही है एवं अनन्त कालतक चलती रहेगी।

वृन्दावन, योगमाया, श्रीराधा एक ही श्रीकृष्णकी तीन शक्तियाँ तीन रूपोंमें हैं। असली बात तो श्रीकृष्ण जानें, पर मैंने एक दिन निवेदन किया था कि उसी सत्-चित्-आनन्दमयी लीलाकी छाया यहाँ पड़ती है और वही छाया इस विश्वके रूपमें दीखती है। यहाँके स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी, वन, पर्वत, समुद्र, नदी—सब उसी दिव्य सत्-चित्-आनन्दमय दिव्य राज्यकी छाया हैं।

७३—व्रजप्रेमकी प्रत्येक लीलामें यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि वहाँ किसी भी गोपीके मनमें अपने सुखकी बिलकुल इच्छा नहीं रहती तथा वहाँके जो श्रीकृष्ण हैं, वे ऐसे नहीं हैं कि उनको सुख नहीं चाहिये। वहाँ उनकी भगवत्ता छिपी रहती है तथा प्रत्येक गोपी यह समझती है कि श्रीकृष्ण हमारे प्रियतम प्राणवल्लभ हैं, इनको सुख होता है, दुःख होगा। व्रजसुन्दरियोंकी चेष्टाओंमें यह भाव नहीं होता कि हमें सुख मिले; अपने-से-अपने जो प्राणवल्लभ हैं, उनको सुख कैसे मिले—केवल यही इच्छा रह जाती है।

यह भी यहाँ समझनेकी बात है कि वृन्दावनमें जो चिन्मयलीला होती है, वहाँ जो गोपियोंके पति हैं, वे भी हाड़-मांसवाले नहीं हैं, वे तो श्रीकृष्णकी ही एक-एक मूर्ति हैं। पति-रूपमें भी श्रीकृष्ण ही रहते हैं। पर पतिसे इनका कुछ भी कभी भी बिलकुल कोई सम्बन्ध नहीं होता।

यहाँ तो गोपियाँ पतितकका त्याग करके श्रीकृष्णको भजती हैं, यह लीला दिखलानी है, इसीलिये यद्यपि स्वयं श्रीकृष्ण ही उनके पति हैं, पर उस रूपमें उनके साथ उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। वह लीला कुछ इतनी विचित्र है कि वाणीसे समझायी नहीं जा सकती। किसी दृष्टान्तसे भी समझाना बड़ा कठिन ही नहीं, असम्भव-सा है। मान लीजिये, जैसे स्त्री-पुरुषका एक जोड़ा है। उनका गुप्त-रूपसे विवाह हो जाय, पर इस बातका किसीको पता लगे नहीं। अब स्त्री तो पतिव्रता है, वह पर-पुरुषका मुँह भी नहीं देख सकती, बात करना तो दूर रहा। अब वह प्रेममें पागल हो जाय। लोगोंको तो यह मालूम नहीं कि इसका विवाह हो गया है। इसलिये उसी पागलपनकी अवस्थामें उसका विवाह फिरसे किसीके साथ कर दिया जाय। उसे पता भी न चले। कुछ दिन बाद उसे जब कुछ होश होता है, तब क्या वह अपने पहले पतिको छोड़कर दूसरेका मुँह भी देख सकती है ? कुछ-कुछ इस दृष्टान्तसे श्रीगोपीजनोंके प्रेमके स्वरूपका अनुमान हो सकता है। असली बातको समझना, बिना दर्शन हुए समझना कठिन है।

बहुत-सी ऐसी बातें हैं कि जिनकी दिव्यताको मलिन मनका प्राणी कदापि समझ ही नहीं सकता। आप पढ़ चुके होंगे भागवतमें— श्रीकृष्ण किसी गोपीका चुम्बन करते हैं, किसीका हृदय स्पर्श करते हैं। पर ये सभी लीलाएँ इतने परेके स्तरकी हैं, इतने ऊँचे दिव्यराज्यकी हैं कि जबतक मनुष्यकी सारी कामवासना सर्वथा मिटकर मन एवं आँखें दोनों चिन्मय न हो जायँ, तबतक वह समझ ही नहीं सकता कि असलमें क्या रहस्य है। संसारमें भी देखा जाता है कि पिता अपनी छोटी पुत्रीका मुख चूमता है। बहिन भाईका हृदयस्पर्श करती है। बेटीको बाप हृदयसे चिपका लेता है; पर क्या वहाँ कभी कामविकारकी

कल्पना भी होती है? फिर सच्चिदानन्दमय दिव्य पवित्रतम भगवत्-प्रेम-राज्यमें कितनी निर्विकार तथा सर्वथा भगवन्मयी लीला होती होगी, इसका जरा अनुमान करना चाहिये। वहाँ स्त्रीका अङ्ग दीखतामात्र है, असलमें तो वह सर्वथा सब ओरसे चिदानन्दमय है। वहाँ जडताकी, कामकी तो गन्ध भी नहीं है। वहाँ उस लीलाके पढ़नेका इतना माहात्म्य है कि पढ़नेवाला यदि श्रद्धासे पढ़ेगा तो उसका काम-विकार नष्ट हो जायगा।

इस व्रजलीलाका भी एक रूप नहीं है। एक-से-एक बढ़कर ऊँचे-से-ऊँचे स्तरकी लीला होती है। अब कई लीलाएँ इतनी मधुर होती हैं कि उनमें श्रीकृष्ण अपनी भगवत्ताको सर्वथा छिपाकर लीला करते हैं। उन बातोंको पढ़कर साधारण आदमी तो यही समझेगा कि यह तो किसी कामी पुरुषकी बात है; परंतु वह है असलमें उन भगवान्‌की लीला कि जिनके संकल्पसे अनन्त ब्रह्माण्ड बनते-बिगड़ते हैं। वहाँ ऐश्वर्य सर्वथा छिप जाता है, वहाँ तो वे बैठकर श्रीराधाके लिये रोते हैं। 'हाय रे, भगवान्‌की स्मृति नहीं छूटे'—इस प्रकार जिनकी स्मृतिके लिये इतनी व्याकुलता ऋषि-मुनियोंको होती है, वे ही प्रभु निरन्तर श्रीराधाजीके लिये व्याकुल होते, रोते रहते हैं।

७४—जैसे भी हो, पूर्ण चेष्टा करके मनुष्य इस संसारको भूलकर श्रीकृष्णकी चिन्मयी लीलामें मनको तन्मय कर दे, तभी वास्तवमें जीवनकी कृतकृत्यता है। और यह तभी होगा, जब ठीक-ठीक पूरी लगनके साथ इसमें जुड़कर साधनामय जीवन बना लिया जाय।

व्रज-प्रेममें मधुरभावकी सेवाका अधिकार पानेके लिये दो तरहकी साधना करनी पड़ती है। एकको बाह्य साधना कहते हैं और दूसरीको आन्तरिक साधना। बाह्य साधनाका रूप यह है कि इस शरीरके द्वारा

जो पाञ्चभौतिक है, निरन्तर जप, कीर्तन, श्रवण, पूजन आदिमें मनुष्य लगा रहे, सांसारिक झंझटोंमें कम-से-कम समय लगाये। आन्तरिक साधनाका यह रूप है कि मनसे दिव्य चिन्मय शरीरकी भावना करके उस शरीरके द्वारा निरन्तर चौबीसों घंटे सेवामें जुटा रहे। यही करते-करते जब प्रेम प्रकट हो जाता है, तब भगवान् भावनाको ही असली बनाकर दिखा देते हैं। दूसरे शब्दोंमें, तब भगवान्‌की वास्तविक चिन्मयी लीला प्रकट हो जाती है तथा जब पाञ्चभौतिक शरीर छूट जाता है, तब फिर प्रेमके और भी ऊँचे-ऊँचे स्तरोंका विकास होता है और अधिकारके अनुसार साधक जब प्रेमकी ऊँची-से-ऊँची अवस्थामें पहुँचता है, तब उसे सेवाका अधिकार मिलता है। यही वैष्णव आचार्योंका, शास्त्रोंका एवं प्रेमी संतोंका सिद्धान्त एवं अनुभव है।

यहाँ जिस दिव्य शरीरकी भावना की जाती है, वही दिव्य शरीर सच्चिदानन्दमय वृन्दावनधाममें योगमायाके द्वारा पहुँचा दिया जाता है। वह शरीर किसी गोपीके गर्भसे जन्म धारण करता है तथा फिर थोड़ी-सी उम्र होते ही श्रीकृष्णके दर्शन होकर प्रेमकी ऊँची-ऊँची अवस्थाएँ—प्रेमके बाद स्नेह, स्नेहके बाद मान, मानके बाद प्रणय, प्रणयके बाद राग, रागके बाद अनुराग, अनुरागके बाद भाव और भावके बाद महाभाव इन अवस्थाओंमें पहुँचते ही श्रीकृष्णकी वंशी बजती है तथा वह गोपी घर-द्वार छोड़कर सदाके लिये निकल पड़ती है। वहाँ श्रीकृष्णकी रासलीलामें पहले-पहल उसे सेवाका अधिकार मिलता है। उसके बाद सदाके लिये वह साधक नित्य लीलामें सम्मिलित हो जाता है। यह एक क्रम है—जो गोपीभावसे साधना करते हैं, उनके लीलामें सम्मिलित होनेका क्रम है।

जो सखाभावसे सेवाकी भावना करते हैं, उनका क्रम भी मिलता-

जुलता ही होता है, पर सखागण रासलीलामें अधिकार नहीं पाते, उन लोगोंकी अन्तिम स्थिति वनमें गाय चराने, साथ खाने, मौज उड़ाने, कंधे चढ़नेतक ही है। इनका क्रम भी ऐसा होता है कि बाहर एवं अन्तर साधना करते-करते जब प्रेम प्रकट होता है, तब वे भगवान्‌के सखा बनकर यहीं लीला शुरू कर देते हैं, फिर उनका पाञ्चभौतिक शरीर छूटनेपर व्रजके किसी गोपके घर वे बालकके रूपमें जन्म लेंगे। इसी प्रकार प्रत्येक भावकी साधनाका यह क्रम है, पर इतना ही हो, ऐसी बात नहीं है, यह तो एक नियम है। श्रीकृष्णके चाहनेपर तो वे जो चाहें, वही नियम बन सकता है, पर प्रायः इसी तरहसे साधकलोग साधनामें अग्रसर होते हैं।

७५—आपपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है कि आपके मनमें व्रजप्रेमकी बात सुननेकी इच्छा होती है। आप निकुञ्ज-लीला सुनना चाहते हैं और मैं सुनाऊँ—इससे बढ़कर मेरा एवं आपका सौभाग्य और क्या हो सकता है? पर मैं जो सुनाने जा रहा हूँ, वह सबके सुननेकी वस्तु सर्वथा नहीं है। मेरी तो यह धारणा है तथा अनुभवी संतोंसे भी बार-बार यह सुन चुका हूँ कि जिसके मनमें तनिक भी कामविकार है, उसे इसे कहने-सुननेका अधिकार ही नहीं है। अतः कम-से-कम इस लीलाके सम्बन्धमें सावधानी रखेंगे। मैं सच्चे हृदयसे कहता हूँ कि जिसके जीवनका एकमात्र उद्देश्य श्रीराधाकृष्ण नहीं हो गये हैं। जिसके मनमें कभी भी श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाकी मधुमयी लीलाओंको सुनकर किसी प्रकार भी तनिक भी कोई-सा भी संदेह होता हो, जो प्रिया-प्रियतमके प्रेमके लिये अपना सर्वस्व स्वाहा करनेके लिये तैयार न हो, जिसका श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाकी अपार, असीम, अनन्त भगवत्तापर, उनकी अपार असीम कृपापर दृढ़, अटूट, अडिग, अचल,

अटल विश्वास नहीं हो गया हो, उसे ये बातें जो मैं मधुर लीलाके सम्बन्धमें आगे लिख रहा हूँ, कभी नहीं पढ़नी चाहिये।

ऊँचे स्तरकी एक लीला होती है और वह नित्य चलती रहती है। वह है परकीया भावकी लीला। इसमें भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी ही विलक्षण प्रेमलीला होती है तथा श्रीराधारानीका प्रेम कितना ऊँचा है, यह दिखलाया जाता है। इस परकीया भावकी लीलामें होता क्या है कि भगवान् सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण अनन्त रूपोंमें प्रकट होकर सभी गोपियोंके एक-एक पति बनते हैं तथा राधारानीके भी एक पति श्रीकृष्ण ही अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं। फिर वहाँकी प्रत्येक लीलाके द्वारा सिद्ध किया जाता है कि पवित्र प्रेम क्या वस्तु है, प्रेममें कितना त्याग होता है। सबसे कठिन जो आर्यपथ, कुलधर्म है, उसका त्याग भी श्रीराधा एवं श्रीगोपीजन सहज ही कर देती हैं। यही प्रेमकी पराकाष्ठाकी लीला है तथा प्रेमप्राप्त कतिपय वैष्णव आचार्योंने एक-से-एक बढ़कर लीलाएँ लिखी हैं और अनुभव करके लिखी हैं। अवश्य ही यह इतनी ऊँची प्रेममयी लीला है कि सबके कहने-सुननेकी चीज बिलकुल नहीं है। यह इतनी ऊँची बात है तथा इसमें इतने रहस्य भरे पड़े हैं कि असलमें तो श्रीकृष्णकी कृपासे ही कोई बिरला प्रेमी साधक इसे थोड़ा-बहुत समझ सकता है।

७६—व्रजप्रेममें केवल त्याग-ही-त्याग है। उसमें रत्तीभर भी कहीं अपने सुखकी वासना नहीं है। यद्यपि स्वयं श्रीकृष्ण ही राधारानी बने हुए हैं तथा श्रीराधारानी ही अनन्त असंख्य गोपियाँ बनती हैं। वहाँ श्रीकृष्ण, श्रीराधा एवं श्रीगोपीजनोंमें तिलभर भी कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि वहाँ सब कुछ सर्वथा सच्चिदानन्दमय है, श्रीकृष्ण ही उतने रूपोंमें प्रकट रहते हैं, फिर भी लीलाकी सिद्धिके लिये सब गोपीजनोंका

अपना-अपना एक भाव रहता है। श्रीकृष्णको सभी अपना प्राणवल्लभ मानती हैं, परंतु किसी भी गोपीके हृदयमें अपने सुखकी किञ्चिन्मात्र भी इच्छा नहीं रहती, सभीकी चेष्टा इसीलिये होती है कि कैसे हमारे प्रियतम प्राणवल्लभको सुख हो। तथापि सबकी सेवा करनेका अलग-अलग ढंग होता है और सबका ढंग मिलकर इतनी सुन्दर विलक्षण लीला बन जाती है कि उसकी कोई उपमा नहीं, कोई दृष्टान्त नहीं कि उसे समझा जाय।

प्रेमका वर्णन करते हुए वैष्णव आचार्य जो कहते हैं, वह संक्षेपमें इस प्रकार कहा जा सकता है—

(१) जहाँ अपनी इन्द्रियोंके सुखकी वासना होती है, वहाँ प्रेम नहीं है, वहाँ काम है।

(२) जहाँ एकमात्र श्रीकृष्णको ही सुख मिले, यह आन्तरिक इच्छा है, उसका नाम प्रेम है।

(३) काम और प्रेमको इसी कसौटीपर कसना चाहिये कि काममें प्रत्येक चेष्टा होगी इस उद्देश्यसे कि हमें सुख मिले, अधिक-से-अधिक हमें आनन्द मिले; और प्रेममें प्रत्येक चेष्टा इस उद्देश्यको लेकर होगी कि श्रीकृष्णको सुख हो, चाहे हमें सदा ही दुःख क्यों न मिले।

(४) उदाहरणके लिये एकमात्र श्रीगोपीजन ही हैं जिनमें अपने सुखकी कोई वासना ही नहीं है और उनका समस्त व्यवहार ही श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेवाला होता है।

(५) श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके लिये लोकधर्मका परित्याग कर देती हैं।

(६) श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये वेदधर्मका परित्याग कर देती हैं।

(७) श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये अपनी देहके सुखका त्याग कर देती हैं।

(८) श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये समस्त संसारके व्यवहारको भी आवश्यकता पड़ते ही छोड़ देती हैं।

(९) श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये लज्जाका सर्वथा परित्याग कर देती हैं।

(१०) श्रीगोपियोंमें श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी इतनी प्रबल उत्कण्ठा रहती है कि वे अपना धैर्य भी छोड़ देती हैं।

(११) श्रीगोपियाँ अपने-आपतकको भी भूलकर केवल श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं।

इस प्रकार उनके जीवनमें एकमात्र श्रीकृष्णका सुख ही उद्देश्य होता है। यहाँतक कि वे अपने कुलधर्मका भी त्याग कर देती हैं; इसलिये कि हमारे प्रियतमको सुख पहुँचे। उनका श्रीकृष्णके पास जाना इसलिये नहीं होता कि वहाँ जानेसे हमें सुख मिलेगा, बल्कि इसलिये कि श्रीकृष्णको हमारे जानेसे सुख मिलेगा।

इस गोपीप्रेमके राज्यमें सब कुछ सच्चिदानन्दमय होते हुए भी श्रीगोपियोंके कई भेद हैं। मुख्य चार भेद हैं—

(१) नित्य-गोपियाँ अर्थात् श्रीराधारानी, उनकी सखियाँ, दासियाँ एवं सहचरियाँ; श्रीचन्द्रावली एवं उनकी दासियाँ, सखियाँ, सहचरियाँ आदि। ये अनादि कालसे हैं। उनमें कोई हेर-फेर अब हुआ हो या होगा—यह बात बिलकुल नहीं है। जैसे श्रीकृष्ण अनादि कालसे हैं, वैसे श्रीराधा एवं नित्य—सखियाँ भी अनादि कालसे हैं और अनन्त कालतक रहेंगी। इनके अतिरिक्त जो भी गोपियाँ हैं, वे सब-की-सब साधनासे वहाँ पहुँची हुई हैं। कोई कभी, कोई कभी, इसी प्रकार

साधनासे सम्मिलित हुई हैं। उनमें—

(२) कुछ तो श्रुतियाँ हैं, जो साधना करके गोपी-देह पाकर लीलामें सम्मिलित हुई हैं।

(३) कुछ देवताओंकी स्त्रियाँ हैं, जो समय-समयपर साधनाके द्वारा गोपी-देह पाकर लीलामें सम्मिलित हुई हैं।

(४) कुछ ऋषि हैं, जो समय-समयपर साधनाके द्वारा गोपीदेह पाकर सम्मिलित हुए हैं। अब आगे भी जो मनुष्य, जो साधक साधना करेगा और साधनामें सफल होगा, वह भी गोपीदेह पाकर उस लीलामें सम्मिलित होगा।

अब तीन तो हैं साधनाके द्वारा बनी हुई गोपियाँ और एक प्रकारकी हैं नित्य-गोपियाँ। इन्हीं नित्य-गोपियोंके साथकी अत्यन्त विलक्षण लीला नित्य चलती रहती है और उसीके किसी एक अंशमें, जो साधना करते हैं, वे प्रवेश करते हैं। जितने ऊँचे अधिकारी होते हैं, उतनी ही ऊँचे अंशकी लीलामें प्रवेश करते हैं, ऊँचे स्तरोंकी लीलाओंको देखकर कृतार्थ होते हैं तथा उसमें स्वयं भी सेवाके अधिकार पाकर जीवन सफल करते हैं। अब जो नित्य-सखियाँ हैं, दासियाँ हैं, तथा स्वयं श्रीराधारानी एवं श्रीचन्द्रावलीजी हैं, इन सबका अलग-अलग भाव होता है अर्थात् एक-से-एक बढ़कर श्रीकृष्णका प्रेम इनमें होता है। सबसे ऊँचा एवं सर्वोत्तम जो प्रेमका रूप है, उसका विकास एकमात्र श्रीराधामें ही हुआ है।

इस प्रेम-लीलामें स्वकीया एवं परकीया—ये दो भाव होते हैं। स्वकीया सर्वथा निकुञ्जकी लीला है, महावाणीमें इसीका संक्षिप्त वर्णन है। परकीयामें गोष्ठ एवं निकुञ्जकी दोनों लीलाएँ सम्मिलित रहती हैं। अस्तु, इस गोष्ठनिकुञ्जकी सम्मिलित लीलामें जितनी गोपियाँ हैं, सब

परकीयाभावकी हैं। उस दिन मैंने आपसे कहा था कि स्वयं श्रीकृष्ण ही अपनी एक-एक छायाका निर्माण करके उन गोपियोंके एवं स्वयं श्रीराधारानीके भी स्वामी बनते हैं तथा फिर वहाँ अति पावनी, अति उच्च स्तरके त्यागकी लीला होती है। श्रीगोपीजन सभी कुछका त्याग श्रीकृष्णके लिये कर देती हैं। यही प्रेमकी पराकाष्ठा है कि प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखके लिये सब कुछका त्याग बिना हिचकके हो जाय।

अब एक बात याद रखिये—जैसे मूलमें एक श्रीकृष्ण हैं, वैसे मूलमें केवल एक राधारानी ही हैं। पर राधारानी ही स्वयं श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ललिता, विशाखा, चित्रा एवं अनन्त सखियों-दासियों तथा चन्द्रावलीजीका रूप धारण कर लेती हैं। इसको कायव्यूह-निर्माण कहते हैं। अर्थात् श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये, तरह-तरहकी लीला रच-रचकर सुख पहुँचानेके लिये राधारानी कायव्यूहकी रचना करके अपनेको अनन्त नित्य-गोपियोंके रूपमें अनादि कालसे प्रकट किये हुए हैं। इन नित्य-गोपियोंके यों तो अनन्त विभाग हैं, पर मुख्य विभाग श्रीराधा एवं चन्द्रावलीजीका है। श्रीराधा ही चन्द्रावलीजी हैं, पर इन दोनोंके दल अलग-अलग होते हैं। उस दिन जो खण्डिताके पद पढ़े थे, वह इन्हीं दो दलोंको लेकर होनेवाली लीलाका वर्णन था। श्रीकृष्ण जब राधारानीके पास आते हैं, तब चन्द्रावलीजी रूठकर मान करती हैं और जब चन्द्रावलीजीके पास श्रीकृष्ण चले जाते हैं, तब श्रीराधाजी रूठकर मान करती हैं। यही संक्षेपमें मानलीलाका सूत्र है। इसके अत्यन्त सुन्दर-सुन्दर रूप हैं एवं अत्यन्त विलक्षण-विलक्षण लीलाएँ होती हैं; सबका वर्णन कोई भी कर ही नहीं सकता; क्योंकि ये अनिर्वचनीय और अनन्त हैं।

पर असलमें बात क्या है, यह भी समझ लेना चाहिये। श्रीकृष्णको

अधिक-से-अधिक सुख मिले, इसलिये श्रीराधाजी एवं श्रीचन्द्रावलीजी मान करती हैं; तथा मान करनेमें भी कितना ऊँचा-ऊँचा भाव होता है यह आपको श्रीराधाजीके प्रेमप्रलापकी कुछ बातें लिखकर कभी समझानेकी चेष्टा कर सकता हूँ। बीचमें यह लिखना भूल गया कि श्रीराधाकी सखियाँ ललिता आदि एवं श्रीचन्द्रावलीकी सखियाँ शैव्या आदि दोनों इस चेष्टामें रहती हैं कि कैसे श्रीकृष्णको अपनी-अपनी सखीके कुञ्जमें ले जायँ। श्रीचन्द्रावलीकी सखी राधारानीकी सखियोंकी दिव्य प्रेममयी वञ्चना करती रहती हैं और राधारानीकी सखियाँ चन्द्रावलीकी सखियोंकी वञ्चना करके श्रीकृष्णको ले जाती हैं। श्रीकृष्णको दोनोंको ही प्रसन्न करना पड़ता है। उसके सामने उसकी सुननी पड़ती है, उसके सामने उसकी।

यों तो यह लीला अनिर्वचनीय है और उसके किसी भी अंशको पूरा-पूरा समझना असम्भव है। पर पढ़-सुनकर जीवन पवित्र करके श्रीकृष्णकी कृपासे उनका दर्शन करनेके लिये ही साधना करनी पड़ती है तथा जिन संतोंको जो अनुभव हुआ है तथा ऋषि-महर्षि जो इस प्रकारकी लीलाएँ शास्त्रमें लिख गये हैं, उन्हींको आधार बनाकर मेरी तुच्छ बुद्धिमें जो आयेगा, लिख सकता हूँ।

यह लीला अनन्त है; जो भक्त जितना ऊँचा अधिकारी होता है, उसे उतने ऊँचे दर्जेकी लीलाका दर्शन होता है। उसी लीलामेंसे एक प्रकारकी लीलाका उदाहरण देकर आपको समझाता हूँ। श्रीकृष्णकी एक लीला है, जिसे दैनन्दिनी लीला कहते हैं, अर्थात् वह प्रतिदिन प्रातःसे लेकर राततक चौबीस घंटे एक-एक प्रकारकी होती है। इसीको अष्टकालीन लीला भी कहते हैं। स्वकीयाभावकी अष्टकालीन लीला दूसरी है। यहाँ परकीयाभावकी अष्टकालीन लीला बता रहा हूँ। इस

लीलाका बहुत संक्षेपमें यह रूप है—श्रीकृष्णकी उम्र चौदह वर्ष कई महीने रहती है। श्रीराधारानी उनसे कुछ छोटी रहती हैं। यही उम्र इनकी अनादिकालसे है और अनन्तकालतक रहेगी। इसी रूपको 'नित्य-किशोर एवं नित्य-किशोरी'का रूप कहते हैं तथा इतने ही रूपमें सदा रहकर यह लीला अनादिकालसे चलती आ रही है और अनन्तकाल-तक चलती रहेगी। पर विलक्षणता यह है कि यद्यपि आधार तो एक रहेगा, पर यह नित्य नयी-नयी होती रहती है और नयी-नयी ही होती रहेगी, क्योंकि असलमें यह जड-जगत्की लीला नहीं है, यह है स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपभूत लीला। अतएव इसमें नित्य नूतनता रहेगी ही।

सूत्ररूपसे ही संक्षेपमें लिख दे रहा हूँ, विस्तार तो सारा जीवन लिखा जाय तो भी समाप्त होनेका नहीं है। यह लीला ऐसे प्रारम्भ होती है—प्रातःकाल निकुञ्जमें श्रीप्रियाप्रियतम सोये रहते हैं, वृन्दादेवीके संकेतसे शुक-सारिका आदि पक्षी उन्हें जगाते हैं। जगानेके बाद सखियाँ दोनोंकी तरह-तरहसे सेवा करती हैं। सेवा होनेके बाद श्रीकृष्ण अपने घर चले जाते हैं तथा रातके समय मैया यशोदा जहाँ उन्हें सुला गयी थीं, वहीं जाकर चुपचाप सो जाते हैं। राधारानी भी घर आकर सो जाती हैं। फिर वहाँ श्रीकृष्णको मैया उठाती हैं। वे हाथ-मुँह धोकर दतुवन करते हैं और गोशालामें जाकर गाय दुहते हैं। फिर स्नान करते हैं। इधर सखियाँ राधारानीको उठाती हैं! मुँह धुलाकर दतुवन आदि कराकर उबटन लगाती हैं, फिर स्नान कराती हैं, फिर शृङ्गार करती हैं। इसी समय मैया यशोदाकी एक सखी राधारानीको बुलाने आ जाती है कि 'चलो, मैया तुम्हें रसोई बनानेके लिये बुला रही हैं।' उनकी साससे कहकर वह उन्हें ले जाती है, वहाँ राधारानी रसोई बनाती हैं। उनके

बनाये हुए भोजनको श्यामसुन्दर आरोगते हैं। राधारानीके द्वारा मैया रसोई इसीलिये बनवाती हैं कि इनके हाथकी रसोईको श्यामसुन्दर बड़े प्रेमसे खाते हैं तथा राधारानीको यह वर मिला हुआ है कि जो इसके हाथकी रसोई खायेगा, उसकी आयु बढ़ेगी। यशोदा सोचती हैं कि मेरा लल्ला बहुत दिन जीयेगा, इसीलिये नित्य इन्हें प्रार्थना करके बुलवाती हैं। इसके बाद मैया स्वयं बहुत तरहसे कहकर राधारानीको भोजन कराती हैं। फिर श्यामसुन्दर गाय चरानेके लिये वनमें जाते हैं तथा राधारानी एवं सखियाँ वनमें फूल चुननेके बहाने तथा सूर्य-पूजाके बहानेसे वनमें चली जाती हैं। वहाँ वृन्दादेवीका सारा प्रबन्ध ठीक रहता है। श्रीकृष्ण भी संकेतपर पहुँच जाते हैं। वहाँ मिलन होता है एवं ढाई पहरतक तरह-तरहकी लीला होती है। इसके बाद श्यामसुन्दर वनमें अपने सखाओंके पास चले जाते हैं और राधारानी घर लौट आती हैं। वे फिर श्यामसुन्दरके लिये रसोई बनाती हैं, स्नान करती हैं तथा शृङ्गार करके अपने महलकी अटारीपर चढ़कर श्यामसुन्दरके वनसे लौटनेकी बाट देखती हैं। सायंकाल होनेपर श्यामसुन्दर लौटते हैं, सखियोंकी भीड़ लग जाती है। मैया श्यामसुन्दरको गोदमें लेकर उनका मुँह चूमती हैं, शरीर पोंछकर स्नान कराती हैं, सखाओंके साथ उन्हें कुछ जलपान कराती हैं। श्यामसुन्दर गाय दुहने चले जाते हैं, गाय दुहकर लौटते हैं तथा नन्दबाबा आदि बड़े-बड़े गोपोंके साथ बैठकर भोजन करते हैं। भोजन करनेपर नन्दबाबाका दरबार लगता है, उसमें खूब नाच-गान होता है। नन्दबाबाके दोनों बगलमें बैठकर श्रीकृष्ण एवं दाऊजी तमाशा देखते हैं। फिर मैया श्यामसुन्दरको बुला लेती हैं तथा दूध पिलाकर एक कमरेमें सुला देती हैं। जब मैया चली जाती हैं तब श्यामसुन्दर चुपकेसे निकलते हैं और जहाँपर संकेत बँधा होता है, वहाँ जा पहुँचते

हैं। इधर राधारानीके पास मैया यशोदा बहुत-सी भोजन-सामग्री भेजती हैं। सखियाँ चालाकीसे श्यामसुन्दरका अधरामृतसिक्त प्रसाद भी ले जाती हैं। राधारानी एवं सखियाँ भोजन करती हैं, फिर शृङ्गार करके वृन्दादेवी दासीके पीछे-पीछे छिपी हुई वहाँ पहुँचती हैं। श्यामसुन्दर एवं श्रीराधाका मिलन होता है। वहाँ ढाई पहर राततक तरह-तरहकी लीलाएँ, वनविहार, जलविहार एवं भोजन आदि करके किसी कुञ्जमें प्रिया-प्रियतम विश्राम करते हैं। दूसरे दिन प्रातः उठनेकी लीला पहले लिखी ही गयी है। इस प्रकार प्रतिदिन अनादिकालसे यह लीला चल रही है और अनन्तकालतक चलती रहेगी। जिन भक्तोंको इस लीलाके दर्शन हुए हैं, उन्होंने बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है तथा बहुतोंने साधनाके लिये भी इस लीलाका विस्तार किया है। ग्रन्थ भरे पड़े हैं। अगणित साधक अबतक हो चुके हैं और न जाने किन-किनको दर्शन भी हो चुके हैं। जो वाणीमें आ सका है, उसका भी बड़े संकोच और संक्षेपसे उन्होंने वर्णन किया है। वास्तवमें तो यह सर्वथा अनिर्वचनीय लीला है। मन-बुद्धिकी सामर्थ्य नहीं कि इसे समझ सके। भगवान्‌की असीम कृपा प्राप्त करके लाखों-करोड़ों भक्तोंमें कोई बिरले भक्त इस लीलाका अनुभव कर पाते हैं। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि न जाने कितनी तपस्या करते हैं; तब कहीं जाकर इसमें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होता है। अवश्य ही जो सर्वथा सम्पूर्ण रूपसे अपने-आपको श्रीप्रिया-प्रियतमके चरणोंमें न्योछावर कर देता है, उन्हींकी कृपापर ही एकमात्र निर्भर हो जाता है, उसके लिये उनकी कृपासे ही इसका दर्शन सुलभ हो जाता है।

प्रतिदिन नयी-नयी लीला होती रहती है और जब साधकका मन फँस जाता है, तब तो एक लीला ही प्रतिदिन नयी हो जाती है, उनका

मन हटना ही नहीं चाहता। यह तो ध्यान होनेपरकी अवस्था है। मैं तो बहुत साधारण व्यक्ति हूँ—न मेरा मन स्थिर हुआ है, न ध्यान ही लगा है, न दर्शन हुए हैं। श्रीकृष्णकी कृपासे ये बातें सुनने-पढ़नेको मिल गयीं, यही मैं अपने लिये अत्यन्त सौभाग्यकी बात समझता हूँ तथा जीवनको पवित्र करनेके लिये एवं आप प्रेमसे सुनते हैं, इसलिये सुनाता हूँ।

७७— जैसे एक लीला फिल्मकी रील है—
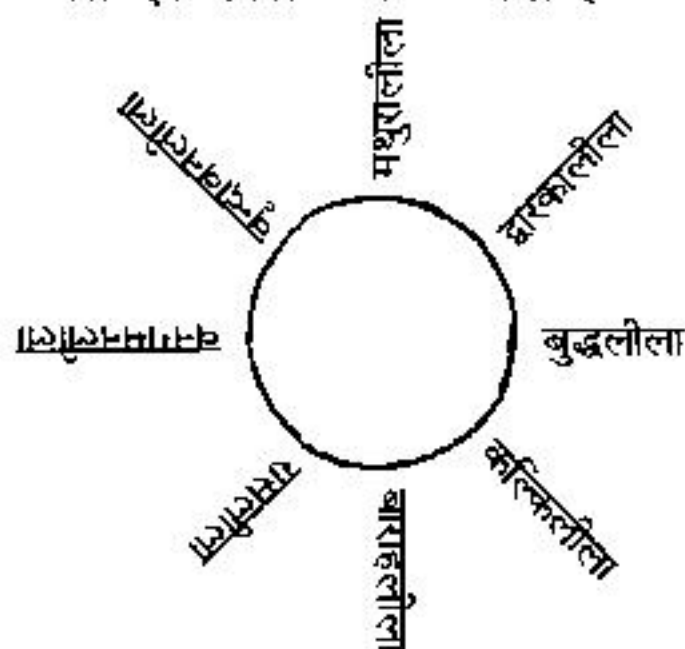
अनादिकालसे जो लीलाएँ हुई हैं और अनन्तकालतक जो लीलाएँ होंगी, वे सब-की-सब भगवान्‌के शरीरमें वर्तमानकी तरह फिल्मकी भाँति सजी रखी हैं। अब यही फिल्म घूमेगा और भक्तकी जो इच्छा होगी, जो लीला वह देखना चाहेगा, भगवान्‌की इच्छासे उसी लीलावाला हिस्सा घूमकर उसके सामने आ जायगा। जब उद्धव पहले मिले, तब उनका अधिकार कुछ कम था। इसलिये पहले वियोगकी लीला उन्हें दिखायी पड़ी। फिर श्रीगोपीजनोंका दर्शन होनेके बाद उससे भी परे एक अत्यन्त विचित्र लीला है, जिसमें यद्यपि संयोग-वियोग दोनों होते हैं, फिर भी जो अत्यन्त विलक्षण है; उसीमेंकी पहली,

संयोगकी लीला उन्हें देखनेको मिली और उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण तो यहीं हैं, यहाँसे कहीं गये ही नहीं। इससे और भी परेकी लीला थी; किंतु सबको उद्धवने थोड़े ही देखा था।

जब श्रीगोपीजनोंकी कृपासे वह अधिकार प्राप्त हुआ; श्रीकृष्ण एवं गोपीजनोंके प्रेमका प्रभाव कुछ-कुछ विदित हुआ एवं श्रीकृष्णकी कुछ अत्यन्त परेकी लीलाओंके दर्शन उन्हें होते हैं, तब उद्धवकी आँखें खुलती हैं और वे यह प्रार्थना करते हैं कि 'हे विधाता! व्रजमें मनुष्यका शरीर मिलना तो दुर्लभ है; यदि मुझे तुम एक झाड़ी, लता, घासका तिनका ही बना दो तो फिर मेरा काम बन जाय। श्रीगोपीजनोंके चरणोंकी धूलि मुझपर उड़-उड़कर पड़े और मैं कृतार्थ हो जाऊँ, बस, इतनी दया कर दो—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्॥

कैसे होउँ द्रुम लता बेलि कुंजन बन माहीं।
आवत जात सुभाय परै मो पै परछाहीं॥
सोऊ मेरे बस नहीं, जो कछु करौं उपाय।
मोहन होहिं प्रसन्न जो, तौ बर मागउँ जाय॥
कृपा करि देहि जो।

'हाय! मैं कैसे इस व्रजमें लता बन जाऊँ? अरे, कम-से-कम मुझपर श्रीगोपियोंकी परछाहीं तो इस प्रकार पड़ जायगी; बस, इतना ही मेरे लिये बहुत है। पर हे भगवन्! मैं क्या करूँ, यह तो मेरे वशकी बात नहीं है। मेरा अधिकार होता तो अभी यहीं लता बनकर मैं सदाके लिये रह जाता। हाँ, यदि मोहन, प्यारे श्यामसुन्दर प्रसन्न हो जायँ तो मेरा काम बन जाय। मैं उनसे जाते ही यही माँगूँगा कि 'हे गोपीनाथ!

मैं तुमसे कुछ भी नहीं चाहता; केवल इतनी कृपा कर दो कि मैं व्रजमें एक लता बन जाऊँ।' पर मेरा भाग्य, पता नहीं, ऐसा होगा या नहीं। पता नहीं श्यामसुन्दर मुझे यह वर देंगे कि नहीं।' यह दशा हुई थी तब, जब श्रीगोपीजनोंके दर्शन उद्धवको हुए। इतना होनेपर भी उद्धवको लीलामें प्रवेश करनेका अधिकार नहीं प्राप्त हुआ; केवल दर्शन-दर्शन हुए, सो भी थोड़े-से अंशके ही।

यह बड़ी विलक्षण बात है कि ये व्रजलीलाएँ एक-से-एक बढ़कर हैं। इनके विषयमें यह कहा ही नहीं जा सकता कि अमुक सबसे परेकी लीला है; क्योंकि सबसे परेकी लीला तो कोई तब कही जाय जब कि कोई सीमा हो। जब लीला अनन्त है, भगवान्‌की सर्वथा स्वरूपभूता है, तब वह नयी-ही-नयी होती जायगी,एक-से-एक विलक्षण आती जायगी; जितना ऊँचा अधिकारी होगा, उसके सामने उतने ही ऊँचे स्तरकी लीला आयेगी। शास्त्रमें आजतक जिन-जिन लीलाओंका वर्णन हुआ है, वह तो बहुत ही थोड़ा है। बहुत-सी ऐसी लीलाएँ हैं कि जिनका वर्णन होना ही असम्भव है तथा ऐसी भी बहुत-सी लीलाएँ हैं, जिन्हें आजतक किसीने नहीं देखा है। वैसा कोई ऊँचा भक्त हो जाय तो वह बिलकुल नयी और सबसे ऊँचे स्तरकी लीला भी देख सकता है। हाँ, एक बात अवश्य है कि जिसको जिस लीलाका दर्शन होता है, उसको यह प्रतीति नहीं होती कि 'हमें अब कुछ देखना बाकी रह गया है।' जैसे समुद्रमें डूब जानेपर ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर जल-ही-जल दीखता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय लीला-सिन्धुमें डूब जानेपर वह स्वयं लीलामें तन्मय हो जाता है, अब उसे यह ज्ञान थोड़े रहता है कि अभी कुछ बाकी है। पर जैसे समुद्रमें विचित्र-विचित्र इतनी बड़ी तरङ्गें उठती हैं कि जिनकी कोई तुलना नहीं; किसी वर्षमें

ऐसी तरङ्गें आती हैं कि वैसी हजारों वर्षके इतिहासमें नहीं मिलतीं। वैसे ही लीलासिन्धुमें भी ऐसी-ऐसी तरङ्गें आती हैं कि उनके प्रकट होनेपर पहली फीकी हो जाती हैं; फिर दूसरी लीलाओंके प्रकट होनेपर पहली फीकी हो जाती हैं; तीसरी लीलाओंके प्रकट होनेपर दूसरी फीकी पड़ जाती हैं; और चौथी प्रकट हुई कि तीसरी फीकी पड़ जाती हैं। तरङ्गोंकी कोई सीमा नहीं कि कब कैसी तरङ्ग आकर पहलेवालीको फीकी—छोटी बना दे। वैसे ही भगवान्‌की लीलाका कोई हिसाब नहीं। न जाने कब कोई ऐसी विलक्षण लीला भगवान् प्रकट करेंगे कि पहलेवाली सब-की-सब फीकी हो जायँगी। पर फीकीका यह अर्थ नहीं कि पिछली लीलासे मन उपरत हो जाय। भगवान्‌की प्रत्येक लीला ही अनन्त असीम सौन्दर्यसे भरी है। यहाँ तो तुलनात्मक दृष्टिसे यह बात कही गयी है।

इसीलिये साधना इसी बातकी करनी पड़ती है कि चाहे जैसे हो, एक बार लीला-समुद्रमें जाकर डूब तो जायँ। फिर तो तरङ्गें आयेंगी ही। उद्धव भगवान्‌के सखा थे, उन्हें सख्यरसका आनन्द प्राप्त था। पर भगवान् तो कृपालु हैं। उन्होंने देखा—बिचारा केवल सूखा ज्ञानका आनन्द एवं मेरे सखापनका आनन्द ही पाता है; अब इसे व्रज भेजकर कुछ इससे भी परेका जो आनन्द है, वह दिखलाऊँ। उद्धव गये। पहले तो उन्होंने ज्ञानकी चर्चा की; पर इसके बाद जब गोपियोंकी कृपासे गोपियोंकी विरह-लीलाके दर्शन हुए, तब उनके होश उड़ गये—हाय! मेरा जीवन तो व्यर्थ गया। उस पश्चात्तापका यह फल हुआ कि श्रीगोपियोंने और भी कृपा की तथा उन्हें उससे भी ऊँची एक लीलाका थोड़ा-सा अंश दिखलाया। इसके बाद और भी कृपा हुई होगी,

हमलोगोंको उसका क्या पता।

पर इतनी बात इसीलिये हुई थी कि उद्धवको श्रीकृष्णका साक्षात् हो चुका था। फिर भगवान्‌ने कृपा करके ऊँचे-ऊँचे स्तरोंकी बात उन्हें दिखायी, सुनायी। इसी प्रकार जैसे भी हो, एक बार श्रीकृष्णका साक्षात्कार मनुष्यको कर लेना चाहिये। फिर मुहर लग जाती है। जब एक बार श्रीकृष्णका साक्षात् हो जाता है, तब उसे 'पास' मिल जाता है कि अब यह हमारी लीला देख सकता है। वह जितना अधिक समय लगायेगा, उतनी ही अधिक लीला देख सकेगा। यहाँ समय लगानेका अर्थ है—लालसा बढ़ाना तथा श्रीकृष्णकी कृपापर अपने-आपको न्योछावर कर देना। वहाँ किसी राजाके सीमित महलमें देखनेकी वस्तुएँ थोड़े ही हैं। भगवान्‌की लीलावाले महलमें एक बार प्रवेश कर जानेके बाद फिर तो अनन्तकालतक देखनेपर भी वहाँकी वस्तुएँ समाप्त नहीं हो सकतीं।

७८—मान लीजिये एक बहुत बड़ा सम्राट् है। अब वह जिस समय दरबारमें रहता है, उस समय उसका रोब सबपर छाया रहता है। पर जब वह महलमें जाता है, तब बच्चा उसकी दाढ़ी पकड़कर खींचता है और रानी उसकी सेवा करती है। रानी यह जानती अवश्य है कि मेरे पति बड़े भारी सम्राट् हैं, पर वहाँ रानीके मनमें उसके सम्राट्पनका रोब नहीं रहता। वहाँ तो सम्राट् उसके प्रियतम पति हैं। सम्राट् हैं दरबारमें, महलमें तो उसके स्वामी हैं, उनपर उसका अधिकार है। राजदरबारका कानून, बैठना-उठना, बातचीत, हँसना-बोलना सब मर्यादासे सीमित रहता है; वहाँ सम्राट्पन (ऐश्वर्य) बात-बातमें रहेगा। पर महलमें सब नियम ही दूसरे होते हैं, वहाँ केवल घर-गृहस्थीका प्रेममय नियम होता है। भगवान्‌के बड़े-बड़े ऊँचे-ऊँचे

भक्त कोई राजमन्त्रीकी तरह समस्त विश्वकी सँभाल रखते हैं, कोई बहुत बड़े अधिकारीकी तरह काम करते हैं, यहाँतक कि युवराजकी तरह, भगवान्‌के पुत्रकी तरह अधिकार रख सकते हैं, पर इतना अधिकार रखकर भी राजमहलकी निर्बाध प्रेममयी स्थितिका उनको कुछ भी पता नहीं हो सकता; वे राजरानी, पटरानीको देखतक नहीं सकते—जानतक नहीं सकते कि उनकी शकल-सूरत कैसी है ?

भगवान्‌का द्वारकाका रूप, मथुराका रूप, अयोध्याका रूप—ये सब ऐश्वर्यके रूप हैं। बहुत ऊँचे-ऊँचे संत उनकी इस ऐश्वर्यलीलामें स्थान पाकर भगवान्‌की तरह-तरहकी सेवा करते हैं। पर वृन्दावनका जो रूप है, वह राजमहलका रूप है तथा जैसे राजमहलकी एक दासी भी राजमन्त्रीको ही नहीं युवराजतकपर आज्ञा चला देती है, वैसे ही श्रीगोपीजनोंकी आज्ञा ब्रह्मा-विष्णु-महेशतकपर चलती है। अवश्य ही जिस प्रकार राजमहलमें दिन-रात आनन्दित रहनेवाली राजरानियोंको, दासियोंको यह अवकाश नहीं कि राज्यमें क्या हो रहा है यह देखें, वैसे ही मधुर लीलामें जिन्हें स्थान प्राप्त हो जाता है, उनको उस अनिर्वचनीय आनन्दसे छुट्टी ही नहीं मिलती कि जाकर देखें—बाहर राज्यमें क्या कैसे हो रहा है।

जो रात-दिन श्रीकृष्णको रोबमें बैठे देखता है, उसे क्या पता कि ये ही श्रीकृष्ण महलमें जाकर न जाने क्या-क्या करते हैं। वह तो दिन-रात दरबारी कानूनकी मर्यादामें रहता है। मर्यादाकी जो लीला होती है, उसीमें उसका मन पगा हुआ होता है।

जैसे साँझ हुई कि महलकी रानियाँ अटारीपर चढ़कर राज्यमें क्या हो रहा है—यह देखना चाहें तो देख सकती हैं, पर राज्यवाला कोई भी उनको देख नहीं सकता। वैसे ही जो मधुर लीलाके भक्त हैं, वे

****

कभी इस प्रापञ्चिक जगत्‌की लीला तथा ऐश्वर्यमयी लीलाको देखना चाहें तो देख सकते हैं। पर जो दिन-रात मिस्रीके रसको चख रहा है, उसका गुड़पर मन थोड़े ही चलता है। वह तो ऐसे विलक्षण आनन्दमें छका रहता है कि क्या पूछना। उसको ऐश्वर्यकी बात सुनने-कहनेकी भी फुरसत नहीं होती।

यद्यपि इसके लिये लोकमें कोई दृष्टान्त नहीं, फिर भी समझनेके लिये समझें कि जैसे राजाकी रानीकी स्पेशल गाड़ी कहीं जाय तो राज्यके मन्त्री आदि बड़े-बड़े अफसर सब प्रबन्ध करते हैं। सारा प्रबन्ध उन्हींका रहता है तथा उनके प्रबन्धमें ही स्पेशल जाती है। पर राजमन्त्री यह जानता है कि मेरा प्रबन्ध रहनेसे क्या हुआ, ये हैं तो राजमहलकी पटरानी। मेरा अधिकार तो ये इसलिये मानती हैं कि मेरा आदर बढ़े। पर वस्तुः मैं तो इनका चाकर हूँ। ठीक उसी प्रकार यदि मधुर लीलामें स्थान पाया हुआ कोई भक्त या उसका अवतार हो तो उसकी देख-रेख ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं बड़े-बड़े देवता ही करते हैं, पर यह समझते हुए कि ये तो हमारे प्रभुके प्रेमी हैं।

जो वैसे भक्त हैं या अवतार लिये हुए हैं, वे सब कानून मानते हैं; पर उनका यहाँका कानून मानना वैसे ही है, जैसे राजरानी सैर करने निकले और मन्त्रीके प्रबन्धमें उसे रहना पड़े। मन्त्रीने जहाँ जैसे रहनेकी, खानेकी व्यवस्था की है, उसी व्यवस्थाका राजरानी पालन करती है। पर यह सब करते हुए भी जैसे वह अपनेको इनके शासनसे सर्वथा परे समझती है, वैसे ही ऐसे जो कोई बिरले भाग्यवान् संत होते हैं अथवा अवतार लिये होते हैं, वे यहाँ इस संसारके कानूनका ठीक-ठीक पालन तो करते हैं, पर वस्तुतः वे अपनेको इस राज्यके शासकोंकी शासनव्यवस्थासे परे अनुभव करते हैं।

कल्पना कीजिये—सम्राट्को मजाक सूझे और इसकी इच्छासे कोई महलकी रानी वेष बदलकर राज्यमें घूमे। अब कोई राजाका चपरासी हो, उस बेचारेको तो पता है नहीं कि यह महलकी रानी है, वेष बदले हुए है। अब सम्राट्का रानीके लिये संकेत है कि 'तुमको वेष बदलकर जब दरबारमें हम रहें, तब आना होगा।' अब जब वह रानी जायगी, तब चपरासी तो उसके साथ भी वही व्यवहार करेगा, जो वह सबके साथ करता है। ठीक उसी तरह पहले आदेश लायेगा, तब दरबारमें प्रवेश करने देगा। वहाँ दरबारमें भी केवल सम्राट्को ही पता है कि यह तो हमारी रानी है, वेष बदले हुए यहाँ आयी है; और लोग तो जानते भी नहीं कि यह कौन है ? रानी वहाँ दरबारमें खूब ठाटसे, ढंगसे बात करती है; पर मन-ही-मन वह भी हँसती है तथा सम्राट् भी उसपर हुकुम तो चलाते हैं, पर मन-ही-मन खूब हँसते हैं। इसी प्रकार भगवान् भी कभी-कभी लीला किया करते हैं।

एक बहुत सुन्दर लीला आती है—भगवान् द्वारकामें गद्दीपर बैठे हैं तथा कुछ ग्वालिनें दहीके मटके लिये दरबारमें आती हैं। भगवान् तो सब जानते हैं—पहले अदबसे बात होती है। फिर गोपियाँ कहती हैं कि 'चलो वृन्दावनमें, यहाँ गद्दीसे उतरो।' सारा दरबार ठक् हो जाता है कि भला, ये गँवारी ग्वालिनें कितनी बढ़-बढ़कर बातें कर रही हैं। श्रीकृष्ण थोड़ा और भी रंग जमाते हैं। गोपियाँ कहती हैं कि 'हम राधारानीकी दासियाँ हैं; यदि सीधे मनसे नहीं चलोगे तो फिर दस्तावेज निकालना पड़ेगा !' (श्रीकृष्णने एक दस्तावेज लिख दिया था कि मैं आजीवन राधारानीका गुलाम रहूँगा।) श्रीकृष्ण खूब हुज्जत करते हैं कि हमें याद नहीं कि हमने कहाँ क्या दस्तावेज लिखा है। फिर गोपियाँ दस्तावेज निकालकर श्रीकृष्णकी सही दिखलाती हैं और गद्दीसे उतार

देती हैं। सारा दरबार चकित रह जाता है। श्रीकृष्ण पीछे-पीछे चल पड़ते हैं। अब सोचिये, वृन्दावनके महलकी दासी उनकी इच्छासे ही दरबारमें आती है तथा तरह-तरहकी लीला करती है, पर लीला देखकर यह अनुमान भी नहीं हो सकता कि ये ही राजराजेश्वर श्रीकृष्ण वृन्दावनकी गोपियोंके दास हैं। ये अप्रकट लीलाएँ प्रेमी भक्त संतोंके नेत्रगोचर होती हैं, ग्रन्थोंमें पूरी नहीं पायी जातीं।

और ये लीलाएँ कुछ इतनी ऊँची हैं कि मन जबतक बिलकुल पवित्र नहीं हो जाता, तबतक इनके रहस्यका अनुमान लगाना भी बड़ा ही कठिन होता है। किसी भी दृष्टान्तसे इसके वास्तविक रहस्यको समझा नहीं जा सकता।

७९—भगवान्‌की लीलाएँ अनन्त हैं। उनमें किसीमें भी मन लग जानेपर तो महीने-के-महीने बीत जाते हैं, एक ही ध्यान बँधा रह जाता है। पता ही नहीं लगता कि क्या हो रहा है। समाधि हो जाती है। परंतु जबतक ऐसी अवस्था नहीं हो जाती, तबतक चञ्चल मनको वशमें करनेके लिये दस-बारह लीलाएँ चुन लेनी चाहिये तथा खूब कड़ाईसे समय बाँध लेना चाहिये कि इतने समयसे लेकर इतने समयतक यह लीला, फिर यह लीला, फिर यह। इस प्रकार जागनेसे सोनेतक मन-ही-मन चिन्तनका तार चलता रहे। बाहर तो सुन रहे हैं, पोथी पढ़ रहे हैं, किसीसे बात कर रहे हैं अथवा बैठकर नाम-जप कर रहे हैं, पर भीतरका काम भी चलते ही रहना चाहिये। खूब चेष्टा करनेसे भगवान्‌की कृपा होनेपर ऐसा बड़ी आसानीसे हो सकता है।

वैष्णव-सिद्धान्तका तो यह एक निचोड़ है कि भक्त भगवान्‌से अपना एक सम्बन्ध जोड़ ले। भगवान् हमारे स्वामी हैं, मैं उनका दास हूँ। भगवान् हमारे सखा हैं, मैं उनका मित्र हूँ। भगवान् हमारे पुत्र हैं,

मैं उनका पिता हूँ। भगवान् हमारे पति हैं, मैं उनकी पत्नी हूँ। भगवान् हमारे प्रेमास्पद प्राणनाथ हैं, मैं उनकी प्रेयसी हूँ। कहनेका अभिप्राय यह है कि जो सम्बन्ध प्यारा लगे, मनको खींचे—बस, उसीको एक बार दृढ़ करके जोड़ ले और फिर ठीक उसी भावके अनुसार चौबीसों घंटे सेवामें लगा रहे। भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, जिस क्षण कोई उनसे सम्बन्ध जोड़ता है, ठीक उसी क्षण वे उसके उसी सम्बन्धको स्वीकार करके उसके लिये वही बनकर आनेके लिये तैयार हो जाते हैं। विलम्ब तो होता है हमारी उत्कण्ठाकी कमीके कारण। यही उत्कण्ठा, जैसे-जैसे भजन-स्मरण बढ़ता है, वैसे-वैसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर बढ़ने लगती है और जिस क्षण उत्कण्ठा पूरी हुई कि उसी क्षण वही बनकर भगवान् उसके सामने प्रत्यक्ष आ जाते हैं और फिर उस दिनसे वह भगवत्प्राप्त पुरुषोंकी गणनामें आ जाता है।

लीलाचिन्तन करते-करते बीचमें भगवान्‌की कृपासे कई विचित्र-विचित्र घटनाएँ हो जाती हैं। मान लें, आप ध्यान कर रहे हैं, भोजनकी लीला चल रही है। बड़े, पकौड़ी, साग एवं तरह-तरहकी मिठाइयाँ मन-ही-मन परस रहे हैं और भावना कर रहे हैं—श्रीकृष्णके भोजन कर लेनेके बाद अब मुझे प्रसाद मिला है, उसे मैं खा रहा हूँ। अब वहाँ मनमें खानेका चिन्तन हो रहा था, पर ठीक वही मिठाई यहाँ इस मुँहमें आ जायगी। इसका अर्थ यह हुआ कि आज ध्यान नहीं हुआ; आज थोड़ी देरके लिये प्रत्यक्ष दर्शन हुआ।

कभी-कभी भक्तोंको ऐसा हुआ है कि भावनासे खीर बना रहे हैं। वह गरम ज्यादा थी, चूल्हेसे उतारते समय हाथपर पड़ गयी। वहाँ भान हुआ कि अँगुली जल गयी और खीरका बर्तन हिलकर गिर गया। अब हो तो रहा था ध्यान; पर ठीक खीरका गरम कटोरा हाथमेंसे गिर

जायगा और हँसते हुए भगवान् प्रकट हो जायँगे। ध्यानमें ही भक्त चूल्हेपर खीर बना रहा था, लकड़ी जल रही थी। खीर उतारी, कटोरेमें ढाली, कटोरेको उठाया, उठाते ही अँगुलीपर पड़ी, अँगुली हिली, हिलनेसे कटोरा गिर गया। आँख उसी समय खुल जाती है तथा देखता है कि एक कटोरेमेंसे खीर गिर गयी है और भगवान् हँसते हुए सामने खड़े हैं।

मधुर भावके, गोपीभावके संतलोग तो विचित्र-विचित्र तरहकी लीला करते हैं। वहाँ तो बड़े-छोटेका संकोच ही नहीं। कभी चपत लगा देते हैं। श्रीकृष्ण चपत खाकर रूठ जाते हैं। अब वे गोपी-भावापन्न संत उन्हें मनाते हैं। मनाते समय श्यामसुन्दर तरह-तरहकी शर्तें पेश करते हैं। यह ला दो तो मानकर फिर तुम्हारे साथ खेलूँगा। वहाँ अत्यन्त सुन्दर लीला हुई। अब उसमें कुछ श्यामसुन्दरको वह लेकर देने जा रहे हैं। वह चीज तो मानसिक थी, पर आँख खुल जाती है और वे देखते हैं कि वही चीज यहाँ इस हाथमें है।

एक बार दो भक्त थे। वृन्दावनकी बात है। दोनों अपनेको श्यामसुन्दरकी सखी मानकर सखीका शरीर धारण करके सेवाकी भावना करते थे। सेवाकी साधनामें बहुत ऊँचे उठ गये थे। एक दिनकी बात है कि राधाकुण्डमें जल-विहारकी लीला चल रही थी। वे उसीके ध्यानमें लगे हुए थे। लीला होते-होते श्रीप्रियाजीके कानोंका कुण्डल जलमें गिर गया। अब संत तो वहाँ सखीके वेषमें थे। अतः उनकी सखी राधारानीका कुण्डल गिरनेसे वे घबराकर पानीमें डुबकी मारकर खोजने लगे। इधर ध्यानमें तो एक-दो मिनट ही बीता था, पर यहाँ सात दिन बीत गये। लोगोंने देखा कि आँखें बंद हैं, श्वास धीरे-धीरे चल रहा है, सात दिन एक आसनसे बैठे बीत गये हैं। उनके

एक मित्र थे। उनका नाम शायद रामचन्द्रजी था। उनको लोगोंने समाचार दिया। वे स्वयं भी पहुँचे हुए थे। उन्होंने आकर देखा—देखते ही समझ गये कि यहाँ तो कुण्डलकी खोज चल रही है। बस, चटसे वे उन्हींके बगलमें बैठ गये। ध्यानमें ही वहाँ पहुँचे तथा कुण्डल, जो एक कमलकी जड़में छिपा हुआ था, उठाकर इनके हाथोंमें दे दिया। कुण्डल पाकर इन्होंने उसे प्रियाजीके कानोंमें पहना दिया। पहनानेपर प्रियाजीने प्रसन्न होकर अपने मुँहमेंका पान उनके मुँहमें दे दिया। अब पान तो ध्यानमें दिया था, पर उसी समय आँखें खुलीं। देखते हैं कि मुँह पानसे भरा हुआ है। दोनों मित्र हँसने लग गये और लोगोंने कुछ नहीं समझा। केवल इतना ही देखा कि सात दिन बाद पान चबाते हुए उठे। जब दो प्रेमी साथी मिलकर ऐसी सेवाकी साधना एक साथ करते हैं तथा दोनों ही जब ऊँची स्थितिमें पहुँच जाते हैं तब एक-दूसरेकी क्या अवस्था है, यह भगवान्‌की कृपासे वे जान लेते हैं। यह योगकी बात नहीं है। यह तो साधनके साम्यकी बात है तथा भगवदिच्छासे ऐसा हो जाता है।

जैसे गोपियाँ श्यामसुन्दरसे मिलनेके लिये एक साथ मिलकर कात्यायनीकी उपासना करती थीं। वैसे ही यहाँ भी कोई-कोई ऐसे मित्र होते हैं, जो मिलकर एक-दूसरेसे हृदयकी बात बताते हुए साधना करते हैं। फिर उनसे एकको दूसरेकी अवस्थाका श्यामसुन्दरकी इच्छासे ही कभी भी पता लग जाता है; सदा ही लगे, यह आवश्यक नहीं है।

किसीकी सच्ची लगन हो तो आसानीसे सफलता मिल सकती है; क्योंकि भगवान् सर्वथा सर्वदा उपस्थित हैं। जो चाहिये, वही कर देंगे। पहले तो चिन्तनमें जहाँ मन लगा कि सब चाह ही मिट जायगी। पता ही नहीं लगेगा कि चिन्तन है या असली। चिन्तनका अभ्यास होते ही

मन दिन-रात वहीं फँसा रहेगा। आपके मनमें जो चित्र आता है, उसमें भी आपकी ही कमीके कारण सब त्रुटि है; क्योंकि आप उसे ऐसा मानते हैं कि यह तो भावनाका चित्र था। सेवा हुई, नहीं हुई; चलो, कोई आ गया है तो उससे बात कर लेंगे। भगवान् देखते हैं कि यह तो हमें भावनाका चित्र मानता है, तब हम असली क्यों बनें ? नहीं तो, फिर गरमीके दिनोंमें आपको राधारानी एवं श्रीकृष्णको पंखा झलनेसे फुरसत नहीं मिले। बाहर कुछ भी करते रहेंगे, पर मनमें सिद्धदेह धारण किये हुए पंखा झलते ही रहेंगे, बाहरके काममें भले ही त्रुटि हो, पर पंखा झलना एक मिनट भी नहीं छूटेगा। कहीं किसी झंझटके काममें फँस गये तो इतना दुःख होगा कि बाप रे, हम तो मर गये।

जैसे × × × × हम गरमीके कारण छटपटा रहे थे, ठीक उसी तरह यह मालूम होगा कि ओह ! आज बहुत गरमी है, देखो तो कितना पसीना श्यामसुन्दरको आ रहा है। और फिर यहाँ शरीरका ध्यान छूटकर मनमें ही पंखा झलना चलता रहेगा। पर यह इसीलिये नहीं होता कि न तो चित्र बाँधनेका अभ्यास सधा है और न उसमें असली श्रीकृष्णभाव है। भोजन करानेकी लीलाका चिन्तन करते हुए जैसे धीरे-धीरे चबा-चबाकर हम प्रत्येक ग्रासको खाते हैं, वैसे ही अनुभव होगा कि यह लड्डू है, इसे श्यामसुन्दरने तोड़ा, तोड़कर मुँहमें रखा, अब चबा रहे हैं। फिर मनमें आयेगा, थोड़ा नमकीन खाते तो ठीक रहता ! बस, उसी समय अनुभव होगा कि दही-बड़ेको तोड़कर मुँहमें रख रहे हैं। पर वह करनेसे होगा। आप जो भाव करेंगे, उसी लीलाको वे सच्ची बना देंगे। पहले तो सुन-पढ़कर दस-बारह लीलाओंका कोर्स बनाइयेगा, फिर पीछे उनकी कृपासे नयी-नयी लीलाएँ अपने-आप ध्यानमें आने लग जायँगी। आप जिन श्रीविग्रहकी सेवा करते हैं, उनके

साथ भी ऐसी घटना हो सकती है। वे सचमुच आपका भोग खा सकते हैं, सामने बैठकर खा सकते हैं; पर सारी बात इसपर निर्भर है—अटल विश्वासके साथ सच्चे मनसे चाहकर पूरी लगनसे चिन्तनमें लग जायँ। फिर कुछ भी करना नहीं पड़ेगा। मधुर-से-मधुर लीला एक-पर-एक मनमें उनकी कृपासे आयेगी और आप बस, देख-देखकर निहाल होते रहियेगा। फिर एक दिन यह शरीर छूट जायगा और उसीमें सदाके लिये शामिल हो जाइयेगा। पर यह सब अनन्य लगनके साथ करनेसे होगा।

नन्ददासजी जब मरने लगे—अन्तमें यह पद गाते हुए मरे—

देखो, देखो री नागर नट ? निरतत कालिंदी तट
गोपिनके मध्य, राजै मुकुट लटक।
काछिनि किंकिन कटि
नंददास गावै तहाँ निपट निकट।

अर्थात् मैं बिलकुल नजदीक खड़ा होकर यह लीला देख रहा हूँ। यह कहते हुए प्राण छोड़ दिये। आप यदि श्रीकृष्णपर निर्भर होकर साधना करें तो नन्ददासजीकी तरह मृत्यु होना कौन बड़ी बात है?

८०—श्रीराधा और श्रीकृष्ण सबके सामने आते हैं, पर सबको एक प्रकारकी लीलाके ही दर्शन नहीं होते। जो जितना ऊँचा अधिकारी होता है, उसके सामने उतने ही ऊँचे स्तरकी लीला प्रकट होती है। पर एक रहस्यकी बात यह है कि जो भी लीला होती है, उसमें यह अनुभव नहीं होता कि हमें कुछ कम दर्जेकी लीला देखनेको मिली है; जिसे भी जो लीला देखनेको मिलती है, यदि यथार्थ मिलती है तो वह इतनी विलक्षण होती है कि उसके लिये उसके सिवा और कुछ भी बच नहीं रहता। न यह जगत् रहता है, न संसार; न कुछ और बात, बस, वही-वही रह जाती है। और फिर उसीपर नया-नया रंग चढ़ता जाता

है तथा वह रंग इतना चढ़ता है कि बस, उसकी कोई सीमा नहीं, नित्य नया-नया हो जाता है।

जो लीलाएँ बहुत ही उच्च कोटिकी होती हैं, उनमें ऐश्वर्य बिलकुल नहीं होता। जिसके मनमें जरा भी ऐश्वर्यकी ओर टान रहती है, उसे उन लीलाओंको सुनकर आश्चर्य होता है। भजन करते-करते पहले पूर्ण ज्ञान हो जाता है, इसके बाद वह ज्ञान धीरे-धीरे छिपने लगता है, तब मधुर लीलाओंका प्रकाश होता है। श्रीराधा-कृष्णकी लीला एक-से-एक मधुर है, जितना भक्त ऊँचा उठता है, उतनी ही वह मधुरता गहरी होती जाती है। इसकी कोई सीमा नहीं है। आजतक जितने भक्त हुए हैं, उन्हें जो-जो अनुभव हुए हैं और वे जितना वाणीमें कह सके हैं उसीका वर्णन हमलोगोंको प्राप्त होता है। पर वह उतना ही हो, यह बात नहीं। वह तो अनन्त है, असीम है। कोई उससे भी ऊँचा भक्त हो तो उससे भी ऊँची तथा और भी विलक्षण मधुर लीला भगवान् उसे दिखा सकते हैं।

मन किसी प्रकार भी लीलामें फँस जाय तो काम बन गया। सोचिये—गायोंकी कतार खड़ी है, श्यामसुन्दर हाथमें दोहनी (दूध दुहनेका पात्र) लेकर खड़े हैं। गायें हरी-हरी दूब चर रही हैं। श्यामसुन्दरका सखा सुबल पासमें खड़ा है। प्रत्येक गाय रँभा रही है तथा चाहती है कि श्रीकृष्ण पहले उसे दुहें। श्रीकृष्ण तो भक्तवाञ्छा-कल्पतरु हैं। एक ही समय एक क्षणमें जितनी गायें हैं, उतने रूपोंमें प्रकट होकर दुहने बैठ जाते हैं। बछड़ा श्रीकृष्णकी पीठ सूँघ रहा है। गाय श्रीकृष्णका सिर सूँघ रही है। दूरपर श्रीराधारानी सखीके कंधेपर हाथ रखकर यह छबि निहार रही हैं। उनकी आँखोंमें प्रेमके आँसू भरते जा रहे हैं।

****

अब इन्हीं गाय, दूब, बछड़ा—किसीमें भी मन लगा रहे और मृत्यु हो जाय तो इससे बड़ी सुन्दर मृत्यु और क्या होगी ?

८१—निराश नहीं होना चाहिये। कभी किसी दिन एक क्षणमें ऐसी घटना हो जायगी कि बस, उस रस-समुद्रमें बह जाइयेगा। उसमें यह नियम नहीं कि धीरे-धीरे ऊँचा उठते-उठते तब होगा। कभी किसी दिन हठात् कोई ऐसी कृपाकी आँधी आयेगी कि उड़ाकर, बिलकुल जमीनपरसे हटाकर रस-समुद्रके ठीक बीचमें ले जाकर पटक देगी, जहाँसे फिर लौटना असम्भव होगा। किनारे रहे तब, तो फिर शायद पीछे भी लौटें, पर वह आँधी इतनी दूर उड़ा ले जायगी कि फिर जमीनका ओर-छोर भी दिखना बंद हो जायगा।

श्रीमद्भागवतमें तीन उपाय कहे गये हैं—

(१) ऐसी कृपा होनेकी बाट देखता रहे। अब हुई, अब हुई, अब हो जायगी, कल हो जायगी, इस महीनेमें तो हो ही जायगी, इस वर्षमें तो निश्चय हो ही जायगी, हो ही जायगी—इस प्रकार प्रतिक्षण जिस प्रकार एक दरिद्र दिवालिया जूएकी बाजी जीत जानेकी बाट जोहता है तथा सौदा करता ही चला जाता है, वैसे ही भगवत्कृपाकी आशामें जो अपने पास है, सब फूँकता चला जाय। समस्त वस्तुओंको भगवत्प्रेमके लिये होमकर कृपाकी बाट जोहे। यहाँ कि जूएमें तो जीत चाहे न भी हो, पर वह कृपा तो आयेगी ही, भगवान्‌की कृपाकी इस बाजीमें तो जीत होगी ही।

(२) जो सुख-दुःख आकर प्राप्त हो जाय, उसे खूब प्रसन्नतासे ग्रहण करे—यह समझकर कि हमारा ही तो किया हुआ है।

(३) हृदयसे, वाणीसे, शरीरसे निरन्तर भगवान्‌को नमस्कार करता रहे।

८२—जो इस प्रकार जीवन बिताता है, उसे मुक्ति तो उत्तर-अधिकारके रूपमें ही मिल जाती है, भगवत्प्रेम भी उसे मिल जाता है।

जब श्रीबनबास मिल्यौ सजनी
तब तीरथ आन गए न गए॥
जब लाड़िलि लाल कौ नाम लियौ,
तब नाम न आन लए न लए॥
पदकंज किसोरिहि चित्त पग्यौ,
तब पायन आन नए न नए॥
जब नैन लगे मन मोहन सौं
तब औगुन आन भए न भए॥

व्रजके एक बहुत पहुँचे हुए महात्मा हुए हैं—श्रीललितकिशोरीजी, उन्हींका यह पद है। ऐसी ही निष्ठा आगे चलकर रसिक भक्तोंकी हो जाती है। पदका भाव यह है—यदि श्रीप्रियाजीके कुञ्जमें बसनेका—वृन्दावनमें बसनेका सौभाग्य मिल गया तो फिर दूसरे तीर्थोंमें गये अथवा न गये। जाना, नहीं जाना बराबर है। समस्त साधनाका फल तो व्रजवासके रूपमें मिल गया। अब और तीर्थोंमें जाकर क्या होगा। दूसरी बात यह कि जब प्रिया-प्रियतम, लाड़िली-लालका नाम मुँहसे निकल गया, तब फिर दूसरे नाम, दूसरी चर्चा मुँहसे निकली या न निकली। आवश्यकता ही कुछ नहीं है। तीसरी बात, जब श्रीप्रियाजीके चरणकमलोंमें चित्त झुककर उसमें फँस गया—उस रंगमें पग गया, तब फिर और किसीके चरणोंमें सिर नवाया या नहीं नवाया—दोनों बराबर हैं। चौथी बात—जब दृष्टि मनमोहनसे लग गयी, नेत्र मोहनसे जा लगे, तब फिर दूसरा कोई अवगुण (दोष) हुआ या नहीं हुआ, दोनों बराबर हैं। किसी परपुरुषमें दृष्टि लगाना बड़ा अवगुण है, पर

जब वही श्रीमनमोहनरूप सुधाचन्द्रमें लग जाती है, तब वह परम सद्गुण बन जाता है।

इस प्रकार श्रीकृष्णप्रेमका भिखारी बस, चार लक्ष्य सामने रखकर बढ़ता है—जगत्‌की परवा मिटाकर बढ़ता है। कौन क्या कहता है, इसकी ओर उसकी दृष्टि नहीं रहती। वह बिलकुल सर्वथा जगत्‌की ओरसे, समस्त योग्यताकी ओरसे मुँह मोड़कर रम जाता है। प्रियतम प्रभुके नाम, रूप, लीला, धाम—इन चार चीजोंमें। अभ्यासके द्वारा जैसे हो, जिस प्रकार हो, बस, एक ही चर्चा, एक ही वातावरण निरन्तर बनाये रखे। लीला सुननेके लिये मिले, सुने—नहीं मिले तो पढ़े, चिन्तन करे। बस, मन उन्हीं बातोंमें रमता रहे। श्रीगोपीजनोंके प्रेमकी कैसी दशा होती है, इसे लिखकर तो कोई बता ही नहीं सकता। जैसे बिजलीका प्रकाश है; उसे देखकर जिसने कभी सूर्यके निर्मल प्रकाशको नहीं देखा है, वह अनुमान ही नहीं कर सकता कि वह कितना निर्मल प्रकाश है। ठीक उसी प्रकार आप जितनी बातें सुनते हैं, उनको सुनकर वास्तविक श्रीगोपी-प्रेमका क्या रूप है, यह ठीक-ठीक अनुमान ही आपको नहीं हो सकता। वह तो सूर्यकी किरणोंकी तरह अत्यन्त निर्मल प्रकाशमय वस्तु है, ज्ञानके परेकी चीज है। उसे तो देखकर उनकी अनन्त कृपा होनेपर ही उसका यत्किञ्चित् स्वरूप समझा जा सकता है।

निरन्तर उनके चरणोंमें रो-रोकर प्रार्थना करनेसे ही कुछ अनुभवमें, कल्पनामें आ सकता है। इसलिये लीला पढ़ें, सुनें, प्रार्थना करें, निरन्तर कृपाकी भीख माँगते ही चले जायँ और जहाँतक बने, अब मनको प्रपञ्चके कामोंसे दूर रखनेकी चेष्टा करें।

एकान्तमें बैठकर रोयें, श्रीप्रिया-प्रियतमके चरणोंमें बैठकर उनके

सामने रोयें। सच्चा रोना न हो, न सही। झूठे ही जैसा भाव हो, उसीको लेकर रोयें—नाथ! इस नीरस हृदयको सरस बनाओ, इस सूखे हृदयमें अपने प्रेमका एक कण देकर इसे भर दो। प्रभो! अपनी ओर, अपनी कृपाकी ओर देखकर ऐसा करो। निश्चय मानिये, बार-बारकी प्रार्थना व्यर्थ जा ही नहीं सकती। झूठीको वे अपने कृपासे सच्ची बना देते हैं।

८३—इस प्रकार अभ्यास आरम्भ कीजिये—

(१) कुञ्जोंका नकशा आपने देखा था। उसमें पहले श्रीविशाखाका कुञ्ज कहाँ है, यह देखकर कुछ क्षण उस समूचे कुञ्जका चित्र बाँधिये।

(२) फिर एक कदम्बके वृक्षकी सुन्दर-से-सुन्दर कल्पना कीजिये।

(३) फिर उसकी डालियोंको देखिये।

(४) फिर उसमें पत्ते लगे हैं, उन्हें।

(५) कदम्बके अत्यन्त सुन्दर फूल हैं, उन्हें।

(६) कदम्बके फूलोंपर झुंड-के-झुंड काले भौंरे हैं, उन्हें।

(७) कदम्बकी जड़के नीचे उजला चम-चम करता हुआ संगमरमरका गट्टा है, उसे।

(८) संगमरमरका गोलाकार गट्टा चारों ओर फैला है, उस गोलाईका कुछ क्षण चिन्तन कीजिये।

(९) अंदाज दो-दो गज चारों ओरसे चम-चम कर रहा है, उसका।

(१०) उसके नीचेकी जमीन भी संगमरमरके फर्शकी बनी हुई है, वह खूब चमक रही है; इसे देखें।

(११) फर्शके चारों ओर बेलाके वृक्ष लगे हैं, उन्हें।
(१२) उनमें बड़े-बड़े फूल खिले हैं, उन्हें।
(१३) फिर चमेलीके वृक्ष हैं, उन्हें।
(१४) चमेलीमें फूल लगे हैं, उन्हें।
(१५) हरी-हरी दूबकी जमीन चारों ओर फैली है, उसे।
(१६) उसपर कहीं स्थलकमल हैं, उन्हें।
(१७) कहीं तगर, कहीं कुन्द, उन्हें।
(१८) चारों ओर हरी-हरी झाड़ी दीख रही है, उसे।
(१९) गद्देके सहारे श्रीराधारानी बैठी हैं, उन्हें।
(२०) नीली साड़ी है, यह।
(२१) हाथमें कङ्कण है, यह।
(२२) दोनों हाथोंमें कङ्कण हैं, उन्हें।
(२३) इसके बाद अत्यन्त सुन्दर चूड़ियोंको।
(२४) इसके बाद भी एक अत्यन्त सुन्दर आभूषण है, उसको।
(२५) बाँहके पास भी सुन्दर आभूषण हैं; उन्हें।
(२६) पैर साड़ीसे ढका है, यह।
(२७) मुखारविन्द शोभा पा रहा है, यह।
(२८) सिरपर चन्द्रिका है, उसे।
(२९) चन्द्रिकामें मोतीकी झालर लटक रही है, उसे।
(३०) ललाटपर सुन्दर कुङ्कुमका गोल लाल बिन्दु है, उसे।
(३१) सिरके पास अञ्चल कुछ बायीं ओर ऊपर चढ़ गया है, उसे।
(३२) श्यामसुन्दर उनके दाहिनी ओर हैं, उन्हें।

(३४) बड़ा ही सुन्दर मुख है, इस झाँकीको।

(३५) आँखें बड़ी-बड़ी हैं, उस सौन्दर्यको।

(३६) आँखें नीचेकी ओर हैं, इस लावण्यको।

(३७) अलकावलि कुछ बिखरी हुई मुखपर आ गयी है, इस झाँकीको।

(३८) दुपट्टा दोनों कंधोंपर लटक रहा है, यह।

(३९) दोनों हाथोंसे एक तागेमें फूल पिरो रहे हैं, यह।

(४०) श्रीप्रियाजी भी दोनों हाथोंसे फूल पिरो रही हैं, इस मनोहर दृश्यको।

कहनेका तात्पर्य यह है कि एक लाइन पढ़कर उसमें क्या-क्या चीज आयी है, यदि उन सबपर एक-एक सेकण्ड भी मन रुककर उन्हें देख ले तो फिर छोटी लीलामें भी चार-छः घंटे लग जायँ। अभ्यास करनेसे होता है। मेरी समझमें यही बात आती है तथा समस्त शास्त्रोंमें एवं वैष्णव संतोंके वचनोंमें यही बात मिलती है कि मनको स्थिर करना ही पड़ेगा और स्वयं भगवान्ने जैसा कहा है अभ्यास और वैराग्य दोनोंको साथ-साथ पूरी तत्परतासे करनेसे ही काम बनता है। सच मानिये, इस व्रजलीलामें मन फँसानेके लिये विशेष परिश्रमकी आवश्यकता ही नहीं है। यहाँ तो एकके बाद एक, एकके बाद एक, इस प्रकार मन जहाँ जाय, कुछ भी सोचे, उसी स्फुरणके साथ व्रजकी किसी चीजको जोड़ देनेसे ही ध्यान होने लग जाता है।

मनकी जिस समय विशेष चञ्चलता हो, उस समय उसे खूब तेजीसे नचाना आरम्भ करें। हमें लिखनेमें तो देर लगती है, पर चञ्चलताके समय उसकी बड़ी सुन्दर दवा यह है कि जोरसे उच्चारण करें, हरे राम, कृष्ण, गोविन्द। फिर प्रारम्भ करें राधाकुण्ड, निकुञ्ज

ललिता, विशाखा, चित्रा, वेदी, नदी, यमुना, गोवर्धन, गाय। इस प्रकार पागलकी तरह मनके सामने जो भी कोई चीज आये, उसे व्रजके भावमें जोड़ दें। मन जब कुछ भी सोचेगा, आप विचारकर देख लें, देखी-सुनी हुई बातको ही सोचेगा। जिस समय किसी स्त्रीपर ध्यान जाय, उस समय पागलकी तरह गोपी, गोपी, गोपी रटने लग जायँ। लड़केपर ध्यान जाय—बस, ठीक उसी समय सुबल, श्रीदाम, स्तोक, मधुमङ्गल पागलकी तरह रटें। इसके बाद ध्यानमें आया घर-मकान—बस; ठीक वहीं, उसी स्थानपर देखें ना, यहाँ तो कुञ्ज है, महल है, ना, वह देखो, ललितारानीका कुञ्ज है। अहा ! कैसी झाड़ी है, कैसा सुन्दर सरोवर है, कैसा उपवन है। यह शब्द उच्चारण होते ही फिर आगे चलकर वह चित्र भी सामने आ जायगा। पर यह तभी होगा जब कि जीवनका उद्देश्य बस, एक ही रह जाय—चाहे मरेंगे या जीयेंगे, अब तो चौबीसों घंटे व्रजमण्डलमें ही मन रमेगा, व्रजके लता-पत्र कुछ भी बनेंगे, पर अब तो बनेंगे ही।

इस प्रकार दृढ़ निश्चय होते ही श्रीकृष्णकी सारी कृपा साधकके ऊपर बहने लगती है। लीला एक-से-एक सुन्दर तथा एक-से-एक आकर्षक—बढ़िया हैं, आकर्षक हैं, पर सभीमें मनकी आवश्यकता होगी ही। आप-जैसे मेरे पास आते हैं; अब यदि ऐसा नियम कर लें कि अपनी पूरी शक्ति लगाकर एक-डेढ़ घंटा जबतक इनके पास बैठूँगा, तबतक ये जैसे-जैसे लिखते जायँगे, उसका पूरा-पूरा चित्र बाँधनेकी चेष्टा करूँगा ही तो फिर चौबीस घंटोंमें डेढ़ घंटा आपका ध्यान हो गया। इसके बाद यदि घरपर नियमसे, आज जिस लीलाको सुनें, कल ठीक चार घंटे उसमें मन लगाना ही है, इस भावनासे दृढ़तापूर्वक साधन करें, तब तो फिर पाँच-छः घंटे प्रतिदिन साधन

होगा। तथा यदि विषयका सङ्ग नहीं हुआ, उससे बचे रहे, तब तो फिर उन्नति होनी ही चाहिये। पर बिना तत्परताके कुछ भी होना कठिन है।

विषयोंका सङ्ग वह है, जो भगवान्‌से हटाये। जो भी वस्तु भगवान्‌के प्रति आकर्षण कम करे, वही विषय है।

८४—श्रीकृष्ण तो कृपाके समुद्र हैं, उनके उन्मुख होना चाहिये; फिर उनमें पक्षपात थोड़े है कि इसपर कृपा करूँ, इसपर नहीं करूँ।

अब सोचिये—इस समय अँधेरा हो गया है; यहींपर एक नहीं, एक साथ अनन्त लीलाएँ चल रही हैं। किसीके एक कणमें मनको डुबाइये। सोचिये, श्रीराधाजीके हाथकी बनी हुई रसोईको नन्दबाबाके साथ श्रीकृष्ण आरोगनेकी तैयारीमें खड़े हैं, मैया यशोदा जल्दी-जल्दी कभी भीतर आती हैं, कभी बाहर जाती हैं? कभी सोचती हैं—ओह! दूधमें मिस्री डालना भूल गयी हूँ और चूल्हेके पास दौड़कर जाती हैं। श्रीकृष्ण अन्यमनस्क-से होकर अपने महलमें बाहरके बरामदेमें खड़े ऐसा भाव प्रकट कर रहे हैं मानो उनकी दृष्टि अन्धकारको चीरकर किसीको देखना चाहती हो।

इधर नन्दबाबाके दरबारकी तैयारी होने जा रही है। कोई बाजा लेकर, कोई पोशाककी पेटी लेकर दरबारकी ओर जा रहा है। नन्दबाबाकी पगड़ी हिल जाती है। श्रीकृष्णका हाथ नन्दबाबा पकड़े हैं, अब वे चल रहे हैं; सीढ़ियोंसे चढ़ रहे हैं। अब एक-एक वस्तुको यदि मन देखने लगे तो इतनी-सी बातमें दो घंटे बीत जायँगे। प्रतिदिन तीन-चार घंटे लीला-चिन्तनमें बिताना कौन बड़ी बात है और तारीफ यह है कि कहीं किसी चीजमें मन डूबा कि श्रीकृष्णकी कृपा लीलाका प्रकाश करके मनको खींच लेगी। श्रीकृष्णकी धारणा नहीं होती, न सही; वैजयन्तीमालाकी धारणा, उनके किसी अङ्गकी धारणा,

सीढ़ियोंकी धारणा, नन्दबाबाकी पगड़ीकी धारणा भी नहीं होगी ? होगी, अवश्य होगी। खूब शान्तिसे, अखण्ड उत्साह लेकर उनकी कृपासे किसी व्रज-भाव-भावित वस्तुको सोचते चले जाइये, फिर तो श्रीकृष्ण खिंचे हुए, बँधे हुए उसीके साथ प्रकट होंगे ही।

८५—जैसे-जैसे वृत्तिकी मलिनता दूर होगी, वैसे-वैसे जो राधाभाव, श्रीकृष्णभाव, श्रीराधाजीका रूप, श्रीकृष्णका रूप है, उसपर नया-नया रंग चढ़ता जायगा और यह रंग चढ़ना कभी समाप्त ही नहीं होता—चढ़ता ही चला जाता है; क्योंकि वह रूप अनन्त है।

अभी मान लें आप ध्यान कर रहे हैं—मीठे झीने सुरमें श्रीकृष्ण बाँसुरीमें सुर भर रहे हैं, गायें पूँछ उठा-उठाकर गोशालामें इधर-उधर दौड़ रही हैं, नन्दबाबाके हजारों दास गायोंकी खड़ी हुई कतारके पास बैठकर दूध दुह रहे हैं, श्रीकृष्णकी दृष्टि दूरपर खड़ी हुई श्रीराधारानीपर लग रही है। ×× बस, इतना-सा ही ध्यान प्रतिक्षण नये-नये रंगमें, नये-नये भावमें रँगता चला जायगा। इसका स्वरूप कुछ दिनोंके बाद ऐसा हो जायगा, उस ध्यानमें और पहलेके ध्यानमें इतना गहरा अन्तर हो जायगा कि आप चकित रह जायँगे। ऐसे ही किसी भी लीलाका रंग, भाव सब बदल जायगा। एक बार पूरी चेष्टा करके मनको डूबनेका अभ्यासी बनाइये फिर देखेंगे—नया-नया रस मिलेगा।

८६—रासलीलाकी फलश्रुति है कि 'इसे श्रद्धापूर्वक सुननेवाला पराभक्ति प्राप्त करता है।' पर **'अनुशृणुयात्'** अर्थात् निरन्तर श्रवण करना चाहिये। तथा **'श्रद्धान्वितः'** अर्थात् इसे ही एकमात्र साधन बनाकर, इसपर दृढ़ विश्वास करके सुने। यदि लीला-श्रवणका ही आप व्रत ले लें तो केवल एक यही उपाय कृपाको प्रकाशित कर देगा; परंतु यह भी होगा पूरी लगनसे, पूरी तत्परतासे।

एक बात सदाके लिये सभीको ध्यानमें रखनी चाहिये कि भगवत्कृपाका प्रकाश होकर अधिकारानुसार प्रेम प्राप्त कर लेना चेष्टाकी सफलतापर बिलकुल निर्भर नहीं है। यह निर्भर है भावपर अर्थात् इसने कितनी सत्यतासे साधनको पकड़े रहनेकी चेष्टा की है। बेईमानी की है कि नहीं—इसीपर फैसला होता है।

८७—एक बार एक संतने कहा था कि संतोंके सङ्गमें किसी प्रकार टिके रहो। प्रेमी संतोंके अन्दर जो प्रेमसमुद्र लहराता रहता है, वह बराबर प्रकट नहीं रहता, छिपा हुआ रहता है। किसी दिन उसमें उफान आया, तुम पासमें रहे और तुमपर एक छींटा भी पड़ गया कि 'उसी क्षण बिना किसी परिश्रमके भगवत्प्रेम प्राप्त करके कृतार्थ हो जाओगे।' भाव यह था कि प्रेमी संतोंके संगका लाभ तो अमूल्य होता ही है; पर कभी-कभी उनका जो भगवत्प्रेम है, वह बाहर प्रकट होकर बहने लग जाता है। सदा ऐसा नहीं होता। अब कल्पना करें,कोई सदासे सङ्गमें रहता आया है। वह यदि उस क्षण वहाँ उपस्थित रहता तो उसे उस प्रेमके प्रभावसे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जायगी। इसलिये कोई भी दूसरी लालसा, दूसरी शर्त न रखकर, धैर्य रखकर संतोंका सङ्ग करना चाहिये।

वास्तवमें बात यह है कि भगवत्प्रेम साधनासे नहीं मिलता। वह तो उसीको मिलता है, जिसे भगवान् या कोई प्रेमी संत दे दें। मोक्ष साधनासे मिल सकता है, पर प्रेम नहीं। महाप्रभुके जीवनसे यह बात भली-भाँति प्रमाणित हो जाती है। एक भक्त थे, वे बेचारे सबको प्रेममें विभोर होते देखते; पर उनको प्रेम नहीं होता। एक दिन वे महाप्रभुका चरण पकड़कर रोने लग गये। महाप्रभुने कहा—'अच्छा, कल गङ्गा-स्नान करके आना।' कल हुआ, वे गङ्गा-स्नान करके आये। प्रभुने

उन्हें छू दिया। उसी क्षण वे प्रेमावेशसे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। सचमुच प्रेम कुछ इतनी विलक्षण वस्तु है कि जहाँ कहीं भी वह प्रकट होता है वहाँ प्रायः ऐसे ही एकाएक प्रकट होता है। श्रद्धा होनी चाहिये।

पद्मपुराणमें एक कथा आती है—एक राजकुमार था। उसके मनमें आया—कैसे भजन होता है, श्यामसुन्दरका प्रेम क्या वस्तु है, किससे जाकर पूछूँ, कौन बताये? इसी चिन्तामें वह सो गया। उसके घरमें एक ठाकुरजीका विग्रह था। उन्हींके विग्रहके सम्बन्धमें स्वप्न आरम्भ हुआ। स्वप्नमें उसने देखा कि वह विग्रह राधा-कृष्णके रूपमें बदल गया। वहाँ उसे साक्षात् श्रीराधा-कृष्ण दीखने लगे। सखियाँ भी दीखने लगीं। फिर श्रीकृष्णने अपनी बायीं ओर बैठी हुई एक सखीसे कहा—'प्रिये! इसे अपने समान बना लो।' वह गोपी आज्ञा पाकर आयी, राजकुमारके पास खड़ी हो गयी तथा अभेद भावसे राजकुमारका चिन्तन करने लगी। राजकुमारने देखा कि एक क्षणमें ही उसके सारे अङ्ग बदल गये; उसके हाथ, पैर, सिर, मुँह, नाक—सब बदल गये और वह एक अत्यन्त सुन्दर गोपी बन गया। उसके बाद उस गोपीने इसे एक वीणा दे दी कि 'यह लो, श्यामसुन्दरको भजन सुनाओ।' उसने भजन सुनाना आरम्भ किया। भजन सुनानेपर श्यामसुन्दरने प्रसन्न होकर उसका आलिङ्गन किया,उसे हृदयसे लगा लिया। इसी समय राजकुमारकी नींद खुल गयी। राजकुमार रोने लग गया। निरन्तर एक महीनेतक रोता रहा। फिर उसने घर छोड़ दिया और वनमें जाकर कई कल्पोंतक एक मन्त्रका जप एवं युगलसरकारका ध्यान करता रहा। तब उसे सचमुच गोपीका देह प्राप्त हुआ और उसे भजन सुनानेकी वही सेवा मिली।

नारदजीको जब दर्शन हुआ तब एक सखीने सब सखियोंका

परिचय दिया कि पूर्वजन्ममें यह अमुक ऋषि थे, यह अमुक, इन्होंने यह मन्त्र जपा था, यह ध्यान किया था। उसी प्रसङ्गमें नारदजीको उस सखीने बताया कि जिस सखीके हाथमें वीणा देख रहे हो, वह पहले जन्ममें राजकुमार रह चुकी है।'

सारांश यह है कि यों तो प्रेम कल्पोंकी साधनाके बाद कभी किसी बड़भागीको मिलता है, पर जब वह प्रेम मिलनेका उपक्रम होता है, तब एकाएक होता है। उसके लिये कोई साधना है, प्रेम मिल ही जायगा—यह कहना नहीं बनता। हाँ, यह ठीक है कि सच्चे प्रेमियों या संतोंका सङ्ग अमोघ होता है। वह किसी-न-किसी दिन प्रेम उत्पन्न कर ही देता है।

८८—सबसे ऊँचा प्रेम श्रीगोपीजनोंका ही है। इसी प्रेममें रासलीलामें सम्मिलित होनेका अधिकार मिलता है और किसी भी प्रेममें नहीं। पर यह गोपीप्रेम भी सचमुच साधनाका फल नहीं है। यह तो किसी गोपी-भावापन्न संत, किसी गोपी अथवा श्रीकृष्णकी कृपासे ही प्राप्त होता है। हाँ, कृपा प्राप्त करनेके अधिकारी सभी हैं। श्रीकृष्णकी निन्दा करनेवाला भी कभी-कभी विलक्षण कृपा प्राप्त करके निहाल हो जाता है। फिर कृपा चाहनेवाला निहाल हो, इसमें संदेह ही क्या है। काशीमें भारतके एक बड़े भारी वेदान्ती थे। उनसे बड़ा उस समय कोई नहीं था। नाम था स्वामी प्रकाशानन्दजी। दिन-रात भक्तोंका मजाक उड़ाया करते थे। महाप्रभु काशीमें आये, दर्शन हुए। दर्शन करते ही चित्तमें उथल-पुथल मच गयी। लम्बी कथा है। फिर वे ऐसे प्रेमी बने कि दिन-रात सखीभावसे राधा-कृष्णके प्रेममें डूबे रहते। जब जीवन पलटता है, तब ऐसे ही पलट जाता है।

भगवद्गुणानुवाद सुननेसे मन इस योग्य होता है कि उसमें प्रेम

प्रकट हो सके। पर सुननेसे प्रेम होगा, सुननेसे प्रेम खरीद लिया जायगा—यह बात नहीं है। वह तो तभी मिलेगा, जब स्वयं भगवान् या उनका कोई प्रेमी संत दे दे।

ज्ञान हो सकता है, मोक्ष हो सकता है, बड़े-से-बड़ा पुरुषार्थ साधनसे सिद्ध हो सकता है, पर प्रेम इतनी दुर्लभ वस्तु है कि साधनाके मोलमें नहीं मिलता। यदि किसीको इसका एक कण भी मिल जाय तो उसकी ऐसी दशा हो जाय कि सब चकित रह जायँ। मुझे तो प्रेम मिला नहीं और पता नहीं, इस जीवनमें मिलेगा या नहीं, क्योंकि वह सौदेकी चीज नहीं है। वह तो श्रीकृष्ण दें या कोई प्रेमी दे, तब मिले।

८९—प्रेमी भक्तोंकी दशा विचित्र होती है। कोई-कोई चाहते हैं कि मैं लता बन जाऊँ। ऐसा होनेपर फिर उसमें फूल लगेंगे और श्रीकृष्ण आयेंगे तथा अपने हाथसे उसे पकड़कर फूल तोड़ेंगे। फूल तोड़कर श्रीगोपीजनोंके अञ्चलमें बाँधेंगे। राधाजीके साथ मेरी पत्तियोंको पकड़कर खेल करेंगे और मैं देखूँगा। धन्य है उनकी चाहना।

व्रजकी लता बनना भी अनन्त सौभाग्यसे ही होता है। वे लताएँ यहाँकी तरह जड़ लताएँ नहीं हैं। वे लताएँ चाहते ही गोपी बन सकती हैं; क्योंकि वृन्दावनकी सभी वस्तुएँ सच्चिदानन्दमयी हैं। वहाँ केवल रूप भिन्न-भिन्न है, तत्त्वतः सभी वस्तुएँ सच्चिदानन्दमयी हैं। लीलाके लिये कोई पेड़, कोई लता, कोई पक्षी, कोई हिरन—इस प्रकार दिखायी पड़ते हैं।

इसीलिये मैं बार-बार कहता हूँ कि वृन्दावनकी किसी भी वस्तुका चिन्तन कीजिये। चिन्तन करते-करते—मान लें पेड़का चिन्तन करते-करते ही आप मर गये और फिर पेड़ बने तो ऐसा-वैसा पेड़, मामूली पेड़ नहीं बनियेगा। वृन्दावनका सच्चिदानन्दमय पेड़ बनियेगा और

चाहते ही गोपी बनकर, सखा बनकर, जैसा रूप चाहियेगा, वैसा ही बनाकर साक्षात् सेवा कीजियेगा।

९०—जैसे-जैसे साधक ऊपर उठता है, वैसे-वैसे ही भगवान्‌का ऐश्वर्य छिपता चला जाता है तथा शुद्ध पवित्रतम मधुर राज्यकी लीला एक-से-एक बढ़कर चित्तमें आती रहती है। अब श्रीकृष्ण राधाके लिये रोयें—यह लीला उसे आनन्द दे ही नहीं सकती, जिसका मन अभी ऐश्वर्यके आनन्दकी ओर आकृष्ट होता है और सच्ची बात तो यह है कि वर्णन इसीलिये किया जाता है कि किसी प्रकार मन पवित्र हो, नहीं तो वे लीलाएँ वाणीमें आ ही नहीं सकतीं, उन्हें तो कोई बिरला भाग्यवान् बहुत ऊँचा संत ही अनुभव करता है।

उस मधुरलीलामें श्रीकृष्ण अपने समस्त ऐश्वर्यको भूलकर, छिपाकर प्रियतमरूपसे लीला करते तथा व्रजसुन्दरियाँ भी उन्हें सर्वथा अपना 'प्राणेश्वर' ही मानती हैं। यह बात नहीं है कि उन्हें भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान नहीं होता। बात यह है कि जब प्रेमका समुद्र उमड़ता है, तब ज्ञान छिप जाता है। वह कुछ ऐसी स्थिति है कि जिसकी कल्पना बड़े ही भाग्यवान् बिरले प्रेमी अपने अन्तरमें ही कर पाते हैं।

'कालाचाँद गीता' एक छोटी-सी पुस्तक है। बड़ी ही सुन्दर पुस्तक है। उसमें एक स्थलपर श्रीकृष्णको रोते देखकर गोपी रोनेका कारण पूछती है। उसीके उत्तरमें श्रीकृष्ण कहते हैं—'सुनो, सखि! जहाँ प्रेम है, वहाँ निश्चय ही आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहती रहेगी। प्रेमीका हृदय पिघलकर आँसुओंके रूपमें निरन्तर बहता रहता है और उसी अश्रु-जल, प्रेमजलमें प्रेमका पौधा अङ्कुरित होकर निरन्तर बढ़ता रहता है। सखि! मैं स्वयं प्रेमीके प्रेममें निरन्तर रोता रहता हूँ। मेरी आँखोंसे निरन्तर आँसुओंकी धारा चलती रहती है। मेरी इच्छा नहीं थी कि मैं

बताऊँ, पर तुमने बार-बार पूछा—तुम क्यों रोते हो ? तो आज बात कह दे रहा हूँ। मैं अपने प्रेमीके प्रेममें रोता हूँ; जो मेरा प्रेमी है, वह निरन्तर रोता है और मैं भी उसके लिये निरन्तर रोता ही रहता हूँ। सखि ! जिस दिन मेरे-जैसे प्रेमके समुद्रमें तुम डूबोगी, जिस दिन तुम्हारे हृदयमें प्रेमका समुद्र—उसी प्रेमका समुद्र जो मेरे हृदयमें नित्य-निरन्तर लहराता रहता है, लहराने लगेगा, उस दिन तुम भी मेरी ही तरह बस, केवल रोती ही रहोगी। सखि ! उन आँसुओंकी धारासे जगत् पवित्र होता है; वे आँसू नहीं, वे तो गङ्गा एवं यमुनाकी धारा हैं। उनमें डुबकी लगानेपर फिर त्रिताप नहीं रहते। सखि ! मैं देखता हूँ, मेरी गोपी, मेरे प्राणोंके समान प्यारी गोपी रो रही है, मेरी प्रियतमा रो रही है, बस मैं भी यह देखते ही रोने लग जाता हूँ। मेरा हृदय भी रोने लग जाता है। मेरी प्रिया—प्राणोंसे बढ़कर प्यारी गोपी जिस प्रकार एकान्तमें बैठकर रोती है, वैसे ही मैं भी एकान्तमें बैठकर रोता हूँ और रो-रोकर प्राण शीतल करता हूँ। यह है मेरे रोनेका रहस्य।'

सोचकर देखिये—जिस साधकका, सिद्धका, भक्तका मन श्रीकृष्णके ऐश्वर्यको ही ग्रहण कर पाया है, वह इस परम मनोहारिणी लीलाका रस ले ही नहीं सकता। उसे भगवान्‌के यों रोनेकी ये बातें समझमें ही नहीं आयेंगी।

जो शान्तभावसे उपासना करते हैं, उनके लिये केवल श्रीकृष्णका ऐश्वर्यमय रूप प्रकाशित होकर रह जाता है। उन्हें यह नहीं ज्ञात होता कि इससे परे भी कुछ और है; क्योंकि भगवान् जिस किसीको भी जिस रूपमें मिलते हैं, उसीमें उसको पूर्णताका अनुभव हो जाता है, कारण भगवान् सर्वत्र सब ओरसे परिपूर्ण हैं। इसी प्रकार दास्य, सख्य, वात्सल्यभावतककी प्राप्ति हो जाती है। पर यहाँतक श्रीराधाजी एवं

उनके दिव्य भावका प्रकाश नहीं होता। वे प्रकट नहीं होतीं। जो इससे ऊपर उठते हैं, मधुरभावसे उपासना करते हैं और साधनाकी सिद्धि प्राप्त करते हैं, उन्हींके लिये श्रीराधाजी प्रकट होती हैं। वे ही इस ऐश्वर्यविहीन परम-मनोहारिणी लीलाका रस ले पाते हैं।

९१—एक बड़ा सुन्दर पद है—

स्याम स्याम रटत राधा, स्याम ही भई री।
पूछत सखियन सौं प्यारी कहाँ गई री॥

यहाँ प्रेमकी बड़ी विलक्षण अवस्था होती है। श्रीराधा श्रीकृष्ण बन जाती हैं और श्रीकृष्ण श्रीराधा बन जाते हैं। यह कविकी कोरी कल्पना नहीं, यह दिव्य चिन्मय प्रेमधाममें होनेवाली लीलाको अनुभव करके उसकी झाँकीका वास्तविक चित्र खींचा गया है। प्रेमरसमें डूबे हुए व्रजके कई संतोंने सचमुच इस दिव्य लीलाका साक्षात्कार किया था और तब पदरचना की थी।

९२—सूरदासजीका प्रयाण-काल जब निकट आया, तब गोस्वामी विट्ठलनाथजीने पूछा—सूरदास! मनकी वृत्ति कहाँ है? सूरदासने गाया है—

बलि बलि बलि बलि कुअँरि राधिके,
स्याम सुँदर जिन सौं रति मानी।

× × ×

पदका भाव यह है कि 'धन्य राधिके! समस्त जगत्, समस्त ब्रह्माण्डको आनन्द देनेवालेको भी तुमसे आनन्द मिलता है।' आगे कहते हैं कि 'तुमलोगोंका रहस्य बड़ा ही विलक्षण है। श्यामसुन्दर पीताम्बर इसलिये पहनते हैं कि उसे देख-देखकर तुम्हारी स्मृतिमें डूबते रहें और तुम नीली साड़ी इसलिये पहनती हो कि श्यामसुन्दरकी स्मृतिमें

ही डूबी रहो।' अन्तिम क्षणमें पूछा गया—'सूरदास! नेत्रकी वृत्ति कहाँ है?'

उसपर गाया—

खंजन नैन सुरँग रस माते। × × ×

यही पद गाकर उन्होंने प्राण छोड़ दिये। ऐसी ही मृत्यु श्रीकृष्ण हम सबको दें।

९३—प्रेमका आरम्भ यहाँसे होता है—'भगवान्‌की इच्छा पूर्ण हो; वे जिस बातसे प्रसन्न हों, वही हो। मुझे अनन्त जन्मोंतक नरकमें रखकर वे प्रसन्न हों तो मुझे स्वर्ग नहीं चाहिये, मुझे नरकमें भिजवा दें, मुझे जलानेमें उनको सुख हो तो सदा जलायें।' यह बात नहीं कि प्रेमी ऊपरसे खाली कहता ही हो; वह सचमुच नरकमें जानेके लिये तैयार रहता है तथा यह बात भी नहीं है कि वह जानता है कि हमें नरक तो जाना ही नहीं पड़ेगा; कह दो, कहनेमें क्या लगता है। वह सचमुच ही नरककी ज्वालामें जलकर प्रियतमके सुखसे सुखी होनेके लिये तैयार रहता है। यह ठीक है कि वह नरकमें नहीं जाता; पर उसके मनमें यह बात नहीं रहती कि मैं नरकमें नहीं जाऊँगा।

उसके मनमें स्वयं शान्ति पानेकी, स्वयं सुख पानेकी बिलकुल-रत्तीभर भी इच्छा नहीं रहती। इसीलिये शास्त्रोंमें प्रेमको पञ्चम पुरुषार्थ कहते हैं, इससे परे अब कोई और पुरुषार्थ नहीं है।

९४—श्रीकृष्ण स्वयं किसी दिन गाकर सुना दें; फिर तो जगत्‌का समस्त संगीत, सारी राग-रागिनियाँ अत्यन्त तुच्छ हो जायँ, क्योंकि यहाँकी समस्त मधुरता उनकी मधुरताके समुद्रकी एक बूँदके बराबर भी नहीं है। सोचकर देखिये—गानेवालेके गलेकी आवाजमें मिठास कहाँसे आती है? भला रेडियोमें, इतने गानेवालोंके गलेमें जो इतना

****

मिठास भरता है, वह स्वयं कितना मधुर गाना गाता होगा। यदि श्रीकृष्णकी मधुरतापर सचमुच विश्वास हो जाय तो प्राण व्याकुल हो जायँ कि वे कैसे मिलें।

९५—नन्ददासजी ब्रजके एक बड़े प्रेमी महात्मा हो गये हैं। ये तुलसीदासजीके गुरुभाई थे। पीछे रामप्रेमीसे कृष्णप्रेमी बन गये। एक दोहा प्रसिद्ध है, गोस्वामी तुलसीदासजीने यह लिखकर भेजा—

कहा कमी रघुनाथमें छाड़ी अपनी बान।

श्रीरामचन्द्रमें क्या कमी थी कि अपनी बान छोड़ दी अर्थात् रामको छोड़कर कृष्णको भजने लगे। उसीके नीचे नन्ददासजीने लिखकर भेजा—(कमी कुछ नहीं, राम-कृष्ण सर्वथा एक हैं; पर)

मन बैरागी ह्वै गयौ सुन बंसी की तान।

कहनेका मतलब यह है कि कब भगवत्कृपा प्रकाशित होकर जीवन ऊपर उठ जायगा—यह कोई नहीं कह सकता। अतः कृपाकी आशा लगाये रहना चाहिये। चाहे किसीका जीवन कितना ही पतित क्यों न हो, कभी निराश नहीं होना चाहिये। उनकी कृपा होगी तब एक क्षणमें सारा नकशा पलट जायगा।

९६—महात्माओंकी दृष्टि पड़ते ही क्षणभरमें जीवन सुधर सकता है। दक्षिणमें एक भक्त हुए हैं। उनका नाम धनुर्दास था। एक वेश्या थी—हेमाम्बा नाम था उसका। बड़ी सुन्दरी थी। उसके रूपपर वे मुग्ध थे। भगवान्में भक्ति बिलकुल नहीं थी। शरीर खूब हट्टा-कट्टा था। लोग उन्हें पहलवान कहते थे। बिचारेके अन्दर कामवासना नहीं थी, रूपका मोह था। उसे रूप बड़ा प्यारा लगता था। दिन बीतने लगे। रङ्गजीके मन्दिरमें उत्सव प्रतिवर्ष हुआ करता था और वैष्णवाचार्य श्रीरामानुजजी महाराज मन्दिरमें आया करते थे। लाखोंकी

भीड़ होती थी। कीर्तनका दल निकलता था। पहलवानजी और वेश्याके मनमें भी उत्सव देखनेकी एक साल इच्छा हुई। वे लोग भी आये। कीर्तनमें लोग मस्त थे। भगवान्‌की सवारी सजायी गयी थी। हजारों आदमी आनन्दमें पागल होकर नाच रहे थे। पर पहलवानजीको उस वेश्याके मुखकी शोभा देखनेसे ही फुरसत नहीं थी। वे वहाँ भी एकटक उस वेश्या हेमाम्बाको ही देख रहे थे। श्रीरामानुजाचार्यजीको दृष्टि पड़ गयी। इतने बड़े महात्माकी दृष्टि पड़ी। भाग्य खुल गया। श्रीरामानुजाचार्यजी बोले—यह कौन है ? उनको दया आ गयी थी। लोगोंमें यह बात प्रसिद्ध थी ही। सबने सारा हाल कह सुनाया। श्रीरामानुजाचार्यजी डेरेपर गये और कहा, उसे बुला लाओ। पहलवानजी आये। श्रीरामानुजाचार्यजीने पूछा—'भैया ! लाखों आदमी भगवान्‌के आनन्दमें डूब रहे थे, पर तुम मल-मूत्रके भाण्डपर दृष्टि लगाये हुए थे। ऐसा क्यों ?' पहलवानने बताया—'महाराजजी ! मैं कामवासनाके कारण उस वेश्याको प्यार नहीं करता, मुझे तो सुन्दरता प्रिय है। हेमाम्बा-जैसी सुन्दरता मैंने और कहीं भी नहीं देखी। इसीलिये मेरा मन दिन-रात उसीमें फँसा रहता है।' आचार्यजी बोले—'भैया! यदि इससे भी सुन्दर कोई वस्तु तुम्हें देखनेको मिले तो इसे छोड़ दोगे ?' पहलवान बोले—'महाराजजी ! इससे भी अधिक सुन्दर कोई वस्तु है, यह मेरी समझमें ही नहीं आता।' आचार्यजी बोले—'अच्छा, संध्याको मन्दिरकी आरती समाप्त होनेके बाद आ जाना। केवल मैं रहूँगा।' पहलवानजी 'अच्छा' कहकर चले गये। श्रीरामानुजाचार्यजी मन्दिरमें गये, भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो ! आज एक अधमका उद्धार करो। एक बारके लिये उसे अपने त्रिभुवन-मोहनरूपकी एक हलकी-सी झाँकी दिखा दो।' इतने बड़े महात्माकी प्रार्थना खाली थोड़े

जाती। अस्तु,

संध्या समयको पहलवान आये। श्रीरामानुजाचार्यजी पकड़कर भीतर ले गये और श्रीविग्रह (मूर्ति) की ओर दिखाकर बोले—'देखो, ऐसा सौन्दर्य तुमने कभी देखा है? पहलवानने दृष्टि डाली। एक क्षणके लिये जन-साधारणकी दृष्टिमें दीखनेवाली मूर्ति मूर्ति नहीं रही, स्वयं भगवान् ही प्रकट हो गये और पहलवान उस अलौकिक सुन्दरताको देखते ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े। बहुत देरके बाद होश हुआ। होश होनेपर श्रीरामानुजाचार्यजीके चरण पकड़ लिये और बोले—'प्रभो! अब वह रूप ही निरन्तर देखता रहूँ—ऐसी कृपा कीजिये।' फिर श्रीरामानुजाचार्यजीने उन्हें मन्त्र दिया। वे उनके बहुत प्यारे शिष्योंमें तथा एक बहुत पहुँचे हुए महात्मा हुए।

आज भी ऐसी घटनाएँ होती हैं, पर लोग जान नहीं पाते, यत्किञ्चित् जाननेपर भी अन्तःकरणकी मलिनताके कारण विश्वास नहीं कर पाते।

९७—सूरदासके पूर्वजन्मकी एक विचित्र बात आती है। उद्धव जब व्रजसुन्दरियोंको ज्ञान सिखाने गये थे, तब अन्तमें खूब फटकारे गये। वहाँ फिर गोपियोंने दिखाया कि देखो, श्यामसुन्दर यहाँसे एक क्षणके लिये भी नहीं गये हैं।' जब उद्धवने यह देखा, तब वे दंग रह गये। फिर चेष्टा की कि भीतर निकुञ्जमें प्रवेश करें। पर ललिताजीकी आज्ञासे रोक दिये गये। उद्धवने खीझकर शाप दे दिया कि जाओ मर्त्यलोकमें। ललिताजीने भी कहा कि तब तुम भी अंधे बनकर वहीं चलो। यह प्रेमका विनोद था। पर आखिर जबान तो उनकी सच होकर ही रहती थी। इसीलिये एक अंशसे ललिताजीने अवतार धारण किया तथा उद्धवने भी एक अंशसे सूरदासके रूपमें जन्म लिया।

ये ललिताजी अकबर बादशाहके यहाँ एक हिंदू बेगमके पास पलीं। बेगम उन्हें बहुत छिपाकर रखती थीं। पर एक दिन बादशाहने देख लिया। उसने जीवनभरमें ऐसी सुन्दरता देखी ही नहीं थी। बेगम उस लड़कीको बहुत प्यार करती थी तथा सचमुच अपनी लड़कीके समान ही मानती थी।

एक दिन बेगमने उस लड़कीसे कहा कि 'बेटी! तू एक दिन मेरा शृङ्गार कर दे, क्योंकि तुझे जैसा शृङ्गार करना आता है, वैसा मैंने कभी नहीं देखा।' उस लड़कीने मामूली शृङ्गार कर दिया। बेगम बादशाहके पास गयी। उस दिन अकबरने बेगमको ऊपरसे नीचेतक देखा तथा उसके रूपको देखकर चकित हो गया। वह बोला—'बेगम! आज तो मैं तुम्हें देखकर हैरान हूँ; सच बताओ, आज तुमने कोई जादू तो नहीं किया है।' अन्तमें बेगमने सच बता दिया कि 'मेरी एक बेटी है, उससे मैंने शृङ्गारके लिये प्रार्थना की। उसने मुझे मामूली ढंगसे सजा दिया। यदि मनसे सजाती तो पता नहीं क्या होता।' बादशाहके मनमें पाप आ गया। बेगम उसे लड़की मानती थी, पर बादशाहने एक नहीं सुनी। किंतु मनमें पाप आते ही अकबरके सारे शरीरमें जलन आरम्भ हो गयी। बड़े-बड़े हकीम उपचार करके हार गये, पर कोई भी लाभ नहीं हुआ। फिर बीरबलने कहा कि यह दैवी कोप है, किसी महात्मा-की कृपाके बिना यह दूर नहीं होगा। उस समय सूरदास सबसे बड़े महात्मा माने जाते थे। वे बुलाये गये। सूरदासने कृपापरवश होकर जाना स्वीकार कर लिया। वे आये तथा अकबरको देखकर कहा—'तुम्हारे पापोंके कारण ही यह हुआ है। तुमने जिस बालिकापर बुरी दृष्टि की है, उसीके कारण यह हुआ है।' फिर सूरदासने कहा, 'अच्छा; तमाशा देखो!' उस बालिकाके पास खबर भेजी गयी कि एक सूरदास

आया है, वह बुलाता है। बालिका हँसी और राजसभामें पहुँची। दोनों एक-दूसरेको देखकर हँसे तथा बालिका देखते-ही-देखते अपने-आप जलकर खाक हो गयी। सबको बड़ा अचम्भा हुआ। अकबरने प्रार्थना की। उसीपर सूरदानसे एक पद गाकर उसे सारा रहस्य बतलाया कि 'यह बालिका ललिताजीके अंशसे उत्पन्न हुई थी और मैं उद्धवके अंशसे।'

पता नहीं यह घटना कहाँतक सत्य है; पर सिद्धान्तः यह सर्वथा सत्य है कि दिव्यलोकके प्राणी एवं भगवान्‌की लीलाके परिकर इस युगमें भी अपने अंशसे भगवदिच्छासे प्रकट होते हैं। इसलिये यह कहा नहीं जा सकता कि किस वेशमें कौन है; सबको साक्षात् भगवान् मानकर सम्मान करनेमें ही लाभ है।

९८—जो ईमानदार नास्तिक होते हैं अर्थात् ठीक-ठीक जैसा भीतर मानते हैं वैसा ही कहते हैं, दम्भ नहीं करते, उनपर भगवान्‌की कृपा दाम्भिकोंकी अपेक्षा शीघ्र प्रकाशित होती है।

हालकी बात है। वृन्दावनमें एक महात्मा थे। वे इस समय हैं या नहीं पता नहीं। खूब भजन करते थे। पर पहले बहुत नास्तिक थे। कलकत्तेमें रहते थे। दलाली करते थे। श्रीकृष्णकी लीला एवं रासलीलाका मजाक उड़ाया करते थे, बुरी तरह नास्तिक थे। कलकत्तेमें किसीके घरपर रासलीला हो रही थी। वे भी मजाक उड़ानेके लिये देखने गये। रासलीला हो रही थी। कौन-सी लीला थी, यह मुझे याद नहीं है। मुझे एक अत्यन्त विश्वासी आदमीने सब बातें बतायी थीं। पर अब पूरी तरह याद नहीं है। जो हो, रासलीला देखते-देखते हठात् श्रीजी जो बने थे, उनकी जगह एक क्षणके लिये वास्तविक राधारानी प्रकट हो गयीं और केवल उन्हींको दर्शन हुए। बस, उसी क्षण सब

छोड़-छाड़कर वृन्दावन चले आये और माला फेरते रहे।

९९—वृन्दावनके वृक्षोंकी भी बड़ी विचित्र बात है। एक महात्माने अत्यन्त विश्वासपूर्ण स्वयं जाँच की हुई कई घटनाएँ हमको एवं भाईजीको सुनायी थीं।

एक पेड़ था। उसे काटनेकी तैयारी हुई। रातमें एक मुसलमान दारोगा (Sub Inspector) को स्वप्न हुआ कि देखो, 'मैं काशीमें एक विद्वान् ब्राह्मण था, बहुत तपस्या करनेपर मुझे व्रजमें पेड़ होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। लोग कल मुझे काटनेकी तैयारी कर रहे हैं, तुम बचाओ। वह मुसलमान था, पर सब पता-ठिकाना—आदमीका नामतक स्वप्नमें बताया गया था। इसलिये उसे जाँचनेकी इच्छा हुई। जाँचनेपर सब बातें ज्यों-की-त्यों मिलीं। उसे पहले कुछ भी इस विषयमें ज्ञात नहीं था।

दूसरी घटना उन्होंने सुनायी थी—एक साधु जंगलमें एक लताके नीचे शौच होने जाते थे। वहाँ कुछ आवाज आती, पर वे समझ नहीं पाते। फिर उनको या शायद उनके साथीको स्वप्न हुआ या दर्शन हुआ—ठीक याद नहीं; जिससे पता लगा कि उस लताके रूपमें कहींकी एक चमारिनने बड़ी भक्तिसे उसके फलस्वरूप जन्म धारण किया था। उसने बताया कि 'तुम्हें स्त्रीके पास जाकर शौच होनेमें लाज नहीं आती? प्रतिदिन तुम्हें चेतावनी देती हूँ, पर तुम समझते नहीं। देखो, व्रजकी लता एवं वृक्षोंके नीचे शौच मत जाया करो।' भागवतमें तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने यह बात कही है कि यहाँके पेड़ प्रायः बड़े-बड़े ऋषि हैं, जो वृक्ष बनकर मेरा और श्रीबलरामजीका दर्शन करते हैं।

१००—व्रजमें अब भी बहुतोंको बहुत सुन्दर-सुन्दर अनुभव

होते हैं। एक साधु थे। भगवान्‌के दर्शनके लिये सब जगह घूमे, पर कहीं कोई अनुभव नहीं हुआ। सोचा, अब अन्तिम जगह गिरिराज चलें! वहाँ किसी-न-किसी रूपमें दर्शन देनेकी भगवान् अवश्य कृपा करेंगे। व्रजमें आये। न जान, न पहचान। एकादशीका दिन था। फलाहार कहाँ मिले? एक बालक आया। बोला, 'बाबाजी! मेरी माँ एकादशी करती है, ब्राह्मण जिमानेके लिये आपको बुला रही है!' बाबाजी गये, बुढ़ियाने प्रसाद बड़े प्रेमसे दिया। भरपेट खाकर फिर बोले—'वह बालक कहाँ गया माई?' बुढ़िया बोली—'बालक कौन?' वे बोले—'जो हमें लाया था।' बुढ़िया बोली—'मेरा न तो कोई लड़का है, न मैंने किसीको भेजा था। आप आ गये। मैंने अतिथि समझकर आपका सत्कार कर दिया।' ऐसी बहुत-सी घटनाएँ होती रहती हैं।

१०१—श्रीकृष्ण-कृपासे असम्भव सम्भव हो जाता है। श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर वृन्दावनके पत्थर पिघल जाते थे। आप तो फिर भी मनुष्य हैं। किसी दिन कृपा करके यदि एक हलकी-सी स्वप्नमें झाँकी उन्होंने दिखायी तो बस, पागल होकर जीवनभर रोते ही रह जायँगे।

१०२—महाप्रभु संन्यासके बाद जब शान्तिपुरसे नीलाचल रहनेके लिये चलने लगे, तब सब कोई रो-रोकर बेहोश होने लगे। बड़ा विचित्र दृश्य था! सभी धूलिमें लोटकर छाती फाड़कर रो रहे थे। आँखोंसे आँसूका फव्वारा छूट रहा था। एक श्रीअद्वैताचार्य ऐसे थे कि उनकी आँखोंमें आँसू नहीं थे। ये अद्वैताचार्य कोई साधारण पुरुष नहीं थे। ऐसा इतिहास मिलता है कि चालीस-पचास वर्षतक लगातार इन्होंने तुलसी-गङ्गाजलसे भगवान्‌की पूजा की थी और केवल यही वर

माँगते रहे थे कि 'हे नाथ! जीवोंका दुःख देखा नहीं जाता, अवतार लेकर जीवोंको भक्त बनाओ और सबका दुःख मिटा दो।' कहा जाता है कि इनकी प्रार्थनासे ही चैतन्य महाप्रभुका अवतार हुआ था। सब रो रहे थे, पर इनकी आँखोंमेंसे आँसूकी एक बूँद भी नहीं निकली। महाप्रभु सबको छोड़कर आगे बढ़ गये। केवल अद्वैताचार्य पीछे चलते रहे। महाप्रभु सबसे अधिक इनकी बात मानते थे। महाप्रभुने कहा—'आचार्य! अब लौट जाइये।' अद्वैताचार्यने कहा—'प्रभु! साथ जानेके लिये नहीं आया हूँ, केवल यह कहनेके लिये आया हूँ कि मेरे-जैसा अधम प्राणी, पत्थरके हृदयवाला प्राणी, नीरस प्राणी संसारमें दूसरा आपको नहीं मिलेगा। आप देखिये, आपके जाते समय ऐसा कोई भी नहीं कि जिसकी आँखोंसे आँसूकी धारा न बह रही हो, पर मेरी आँखोंमें एक बूँद भी आँसू नहीं।'

चैतन्य महाप्रभु हँसे और बोले—'देखिये, आपको इसका रहस्य बता देता हूँ, मुझे आपसे काम लेना था। मैंने देखा कि सब लोग तो बेहोश होकर गिर जायँगे। कोई एक आदमी ऐसा चाहिये, जो सबको सम्हाल सके। इसलिये यह देखिये मैंने अपने कौपीनमें एक गाँठ बाँधकर आपके प्रेमको रोक रखा है। पर अब जब आप रोना चाहते हैं तो लीजिये, जी भरकर रो लीजिये।' यह कहकर महाप्रभुने गाँठ खोल दी। खोलते ही अद्वैताचार्य बेहोश होकर पछाड़ खाकर गिर पड़े और रोने लगे।

देखें, भगवान्‌की लीला कोई भी नहीं समझ सकता। पर यह ठीक है कि जो प्रेममें रोना चाहेगा, नहीं रोनेके कारण जिसके हृदयमें पीड़ा होती होगी, उसे भगवान्‌का प्रेम मिलेगा ही और वह रोयेगा ही। पर सम्भव है, उन्हें किसीसे कुछ काम कराना हो, कुछ लीला करानी

हो—इसके कारण ही हृदयको सूखा बनाये रखते हों। उनके रहस्योंको कौन जाने। मनुष्यको अपनी ओरसे एक ही काम करते रहना चाहिये—अत्यन्त प्रेमसे निरन्तर उनका स्मरण।

१०३—कुछ साल पहले एक प्रेमी सज्जन वृन्दावन गये थे। नावपर घूमते हुए वृन्दावनकी सैर कर रहे थे। वर्षाका मौसम था। यमुनाजीमें खूब पानी था। संध्याका समय था, इतनेमें खूब वर्षा हुई। टीले, जमीन, रास्ता दीखना बंद हो गया। नावसे उतरकर वे बिचारे अकेले एक किनारे जंगलके पास खड़े थे। इतनेमें देखा कि कुछ गायें आ रही हैं तथा दो बच्चे काली कमली ओढ़े हुए पीछे-पीछे आ रहे हैं। मुझे घटना ठीक-ठीक याद नहीं है। वे शायद रास्ता भूल गये थे। बच्चोंसे पूछा। एक बच्चा बड़ा सुन्दर था। मन बरबस उसकी ओर खिंचता चला जा रहा था। कुछ बात होनेके बाद उसने रास्ता बता दिया और आगे चलने लगा। ये पीछे-पीछे चले। उसने मना किया, पर ये माने नहीं। उसी समय गाय, बच्चे आदि सभी अन्तर्धान हो गये।

कहनेका भाव यह है कि भगवान्‌का दर्शन तो वे जब ठीक समझेंगे, आवश्यक समझेंगे, तब हो जायेगा। आपको तो केवल प्रेमपूर्वक भजन करते रहना चाहिये।

१०४—एक ब्राह्मण थे। ऐसी घटना हुई—एक सालके भीतर परिवारमें जितने थे, सभी मर गये, वे अकेले बच गये। श्राद्ध आदि करनेमें ऋण हो गया, मकान गिरवीं रखकर रुपया लिया। फिर एक जगह आठ-दस रुपये महीनेकी नौकरी कर ली, इसीसे पाँच-सात रुपये बचाकर किस्तका रुपया भरते जाते थे और बहुत कम खर्चमें काम चलाकर बिहारीजीके मन्दिरमें भजन करते रहते थे।

यह नियम है कि तमस्सुककी पीठपर किस्तका रुपया चढ़ा दिया

जाता है। पर उस महाजनके मनमें बेईमानी थी; वह मकान हड़पना चाहता था, इसीलिये चढ़ाता नहीं था। जब रुपया करीब सब भर गया, केवल आठ-दस रुपये बाकी बचे थे, तब उसने पूरे रुपयेकी सूदसहित नालिश कर दी। सम्मन आया, बिचारे ब्राह्मणदेवता बिहारीजीके मन्दिरमें बैठे थे। सुनकर बहुत दुःखी हुए, बोले—'मैंने तो सब रुपये भर दिये हैं, केवल आठ-दस रुपये बाकी हैं।' उसकी विकलता देखकर सम्मनवाले चपरासीको दया आ गयी। उसने कहा—'कोई गवाह है ?' ब्राह्मणने कहा—'कोई नहीं।' वह बोला—'तो बड़ी दिक्कत है।' ब्राह्मण बोला—'हाँ, एक गवाह बिहारीजी हैं।' भगवान्‌की कुछ ऐसी लीला कि चपरासीकी समझमें यह आ गया कि सचमुच कोई बिहारीजी नामका एक व्यक्ति इसका गवाह है। उस चपरासीने जाकर मुन्सिफसे कह दिया कि 'हुजूर, ब्राह्मण ईमानदार है। महाजन बेईमान है। उस ब्राह्मणका एक गवाह है बिहारीजी। उसके नामसे सम्मन निकाल दें।' मुन्सिफ भी भला आदमी था। उसने सम्मन निकाल दिया। वही चपरासी फिर आया। ब्राह्मण वहीं बैठे थे। बोले, 'यहीं कहीं होगा। तुम यहीं-कहीं साटकर चले जाओ।' भगवान्‌की लीला थी। उसने समझा, क्या हर्ज है। लोगोंको पता था कि बिहारीजीका अर्थ ये बिहारीजी हैं। इसलिये सब लोग हँस रहे थे कि यह कितना मूर्ख है।

तारीख आयी। उसके पहले दिन रातमें ब्राह्मणने मन्दिरमें जाकर रहनेकी आज्ञा माँगी; पर पुजारी आदि तो हँसते थे। उसके बहुत रोनेपर उन सबने आज्ञा दे दी। वह रातभर रोता रहा। सुबह उसे नींद आ गयी। देखता है कि बिहारीजी आये हैं और कह रहे हैं—'रोते क्यों हो, तुम्हारी गवाही मैं अवश्य दूँगा।' नींद खुलते ही वह तो आनन्दमें

भर गया और उसे तनिक भी संदेह नहीं रहा। पूरा विश्वास था कि ये मेरी गवाही अवश्य देंगे।

लोगोंमें हलचल मच गयी। उसने कहा—'तुमलोग देखना मेरी गवाही बिहारीजी अवश्य देंगे।' बहुत-से आदमियोंने सोचा—चलकर कोर्टमें आज तमाशा देखेंगे। पर भगवान्‌की लीला ! आँधी-पानी आ गया, फलतः बहुत कम आदमी जा सके, फिर भी कुछ-कुछ पुण्यात्मा भाग्यसे चले गये।

कोर्टमें मुन्सिफके सामने मामला पेश हुआ। मुन्सिफने पूछा—'गवाह आया है ?' ब्राह्मण बोला—'हाँ, हुजूर ! आया है।' चपरासीने आवाज लगायी—'बिहारी गवाह हाजिर हो !' पहली बार कोई जवाब नहीं, दूसरी बार कोई जवाब नहीं। तीसरी बार जवाब आया—'हाजिर है।' इतनेमें लोगोंने देखा एक व्यक्ति अपने सारे शरीरको काले कम्बलसे ढके हुए आया और गवाहके कटघरेमें जाकर खड़ा हो गया। उसने जरा-सा मुँहका पर्दा हटाकर मुन्सिफको देख लिया। बस, मुन्सिफके हाथसे कलम गिर गयी; वह एकटक कई मिनटतक उसकी ओर देखता रहा। उसकी ऐसी दशा हो गयी, मानो वह बेहोश हो गया हो।

कुछ देर बाद मुन्सिफ बोला—'आप इसके गवाह हैं ?' वह काले कम्बलवाला बोला—'जी हाँ।' आपका नाम ? 'बिहारी।' आपको मालूम है, इसने रुपये दिये हैं ? इसपर बड़ी सुन्दर उर्दू भाषामें बिहारी गवाह बोले—'हुजूर ! मैं सारे वाक्यात अर्ज करता हूँ।' इसके बाद बताना शुरू किया। अमुक तारीखको इतने रुपये, अमुक तारीखको इतने रुपये—तारीखवार करीब सौ तारीख बता दी। मुद्दईका वकील उठा और बोला—'हुजूर ! यह आदमी है कि लायब्रेरी, कभी

आदमीको इतनी तारीख याद रह सकती है?' बिहारी गवाह बोले—'हुजूर! मुझे ठीक-ठीक याद है, जब यह रुपये देने जाता था, तब मैं साथ रहता था।' मुन्सिफ—'क्या रुपये बहीमें दर्ज हुए हैं?' बिहारी गवाह—'जी हाँ, सब दर्ज हुए हैं, पर नाम नहीं है। रोकड़-बहीमें उन-उन तारीखोंमें रकम जमा है, पर इसका नाम नहीं है। दूसरे झूठे नामसे जमा है।'

मुन्सिफ—'तुम बही पहचान सकते हो?'

बिहारी—'जी हाँ।'

मुन्सिफने उसी समय कोर्ट बर्खास्त किया और दो-चार चपरासियोंके साथ मुद्दईके मकानपर चला गया। साथ-साथ बिहारी गवाह थे। किसीने गवाहका शरीर नहीं देखा, केवल मुन्सिफने मुँह देखा था।

वहाँ पहुँचकर बिहारी गवाहने आलमारी बता दी। बहीका इशारा कर दिया कि उस बहीमें है। मुन्सिफने बही निकलवाकर मिलाना शुरू किया। गवाहने जो तारीखें बतायी थीं, उन्हीं-उन्हींमें उतनी-उतनी रकम दूसरे उचन्तके नामसे जमा थी। अन्तिम तारीख कई पन्नोंके बाद थी। पन्ने उलटनेमें देरी हो गयी। पर वह भी ठीक मिली। पर इतनेमें ही लोगोंने देखा कि बिहारी गवाहका पता नहीं। क्या हुआ, कहाँ गये, कुछ पता नहीं चला। मुन्सिफ कोर्टमें आया। मुकदमेको डिसमिस कर दिया और स्वयं त्यागपत्र लिखकर साधु हो गया। यह घटना कहीं शायद छपी भी है। सम्भव है, मुझे कुछ हेर-फेरसे सुननेको मिली हो। पर घटना सर्वथा सच्ची है तथा इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। यदि मनुष्यका भगवान्‌पर सच्चा विश्वास हो तो आज भी, ऐसी इससे भी अद्‌भुत घटना हो सकती है, होती है।

सांसारिक कार्योंमें सहायता देना और अपना प्रेम देना भगवान्‌के लिये तो दोनों ही समान हैं। असलमें भगवान् भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं; उनसे हम जो चाहें, वही वे करनेको तैयार हैं। हाँ, चाह सच्ची और दृढ़ विश्वासयुक्त होनेसे ही काम होता है।

१०५—चटगाँवमें एक कृष्णानन्दजी साधु थे। उनका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति सखाका भाव था। उन्होंने पूजा करनेके लिये एक श्रीकृष्णकी पत्थरकी प्रतिमा मँगवायी। मँगानेपर उनको पसन्द नहीं आयी, बोले—'तुम गड़बड़ करते हो, यह नहीं चल सकती। मैं तुमको तीन दिनका समय देता हूँ, जो मूर्ति मेरे हृदयमें है, वही मूर्ति मुझे चाहिये। नहीं तो, तीन दिन बाद मैं तुम्हें गङ्गामें फेंक दूँगा।' भगवान्‌को तो विश्वास चाहिये। वे देखते हैं केवल सच्चा विश्वास। उनका विश्वास ठीक था। तीन दिनमें पत्थरकी वही मूर्ति बदलकर इतनी सुन्दर हो गयी कि क्या पूछना है। इस बार गोरखपुरमें उस मूर्तिके फोटोका हमने दर्शन किया था। ऐसा जान पड़ता है, मानो जीवित पुरुषका फोटो हो। ऐसे ही आपके ध्यानकी मूर्ति भी विश्वाससे साक्षात् बन सकती है।

१०६—भगवान्‌के विषयमें एक विलक्षण बात है। वह यह कि जो व्यक्ति जिस बातके लिये जिस रूपमें विश्वास कर ले कि भगवान् हमारे लिये यह इसी रूपमें कर देंगे, फिर निश्चय समझिये बिना कुछ भी किये भगवान् उसके लिये वही उसी प्रकार कर देंगे। यह नहीं कि भजन करो, स्मरण करो। केवल मनमें यह धारणा कर ले कि बस, भगवान् हमारे लिये तो यह कर ही देंगे। भगवत्प्रेमसे लेकर तुच्छ संसारके विषयोंतकके लिये यह नियम लागू है—सबके लिये लागू है।

कोई कहे कि 'अमुक कार्यमें आजतक तो ऐसा नहीं हुआ, क्या तुम्हारे लिये पहले-पहल होगा?' इसका जवाब यह है कि यदि तुमने

सचमुच यह बात उनपर ढार दी है तो संसारके इतिहासमें पहले-पहल तुम्हारे लिये होगा और अवश्य होगा।

व्रजप्रेमका नियम है—अमुक बात होनेपर ही यह प्राप्त हो सकता है। पर यदि सचमुच उनपर कोई ढार दे कि हमें तो यह हुए बिना ही प्रेम देना पड़ेगा, तो ठीक मानिये, उसके लिये ही नया नियम बनेगा। ठीक उसकी मान्यताके अनुरूप नियम बनाकर भगवान् उसे व्रजप्रेमका दान कर देंगे।

१०७—जब दिव्य वृन्दावन-लीलाका प्रापञ्चिक जगत्में प्रकाश होता है, तब उसमें भी कई रहस्यकी बातें होती हैं। गत बार जो नन्द-यशोदा हुए थे, उनके विषयमें भागवतमें लिखा मिलता है कि वे दोनों तपस्यासे नन्द-यशोदा बने थे। होता यह है कि जो नित्य लीलावाले नन्द-यशोदा हैं, उन्हींका इनमें आवेश हो जाता है। भागवतकी यहाँवाली जो लीला है, वह भी सच्चिदानन्दमयी ही है; पर किसी-किसी अंशमें उसमें प्राकृत संयोग भी रहता है; क्योंकि यह लीला प्रकट ही इसलिये की जाती है कि इसके द्वारा और-और भक्तोंको इसमें शामिल किया जाय। जो नित्यलीला है, उसमें कंस आदिका वध नहीं होता। वह लीला सर्वव्यापक है, पर प्रत्येक द्वापरके अन्तमें उसी वृन्दावनके स्थानपर प्रकट होती है। वह लीला है तो यहाँ भी, इस कलममें भी है, विश्वके अणु-अणुमें है; पर प्रकट वहीं उस वृन्दावनमें हुआ करती है। नित्य लीलाके जो-जो पार्षद हैं, या तो उनका साक्षात् प्राकट्य होता है या यहाँके जीवोंमें उनका आवेश हो जाता है। श्रीकृष्ण, श्रीराधा एवं नित्य सखियाँ तथा नित्य सखा तो साक्षात् आते हैं तथा नन्द-यशोदा—ये दोनों भी कभी साक्षात् आते हैं; पर कभी उनका आवेश भी होता है। जैसे इस बार जो लीला हुई

थी, उसमें नित्य नन्द-यशोदाका तपस्यासे बने हुए नन्द-यशोदामें आवेश हो गया था।

असल बात तो यह है कि इसका तत्त्व समझना असम्भव-सा है; क्योंकि असली बात पूछें तो यह प्रश्न वहींतक बनता है जबतक वह लीला सामने नहीं आती। सामने आनेपर फिर उसके सिवा कुछ बच ही नहीं जाता। केवल वह लीला-ही-लीला रह जाती है। भगवान्‌की यही तो अचिन्त्य शक्ति है कि एक ही स्थानपर एक ही समय इतनी लीलाएँ चल रही हैं। जहाँपर आपको यह घड़ी दीख रही है, वहीं अनादिकालसे जो लीला हुई है, अनन्त कालतक जो होगी, वे सभी लीलाएँ वर्तमान हैं, क्योंकि वस्तुतः घड़ीकी जगह स्वयं भगवान् ही हैं और पूर्णरूपमें हैं। जबतक आपको घड़ी दीखेगी, तबतक भगवान् नहीं दीखेंगे और जब घड़ीका दीखना बंद हो जायगा और वहाँ भगवान् दीखेंगे, उस समय यह ज्ञान भी सर्वथा लुप्त हो जायगा कि यहाँ पहले घड़ी थी। यह घड़ीका दीखना एवं घड़ीका ज्ञान तो तभीतक है, जबतक भगवान् नहीं दीखते। उनके दीखनेपर तो वे-ही-वे रह जायँगे। इसी प्रकार उनकी कोई-सी लीला दीख जानेपर यह प्रश्न नहीं बनेगा कि कौन नित्य है और कौन पीछेकी है; क्योंकि असलमें तो जो कुछ भी है, वह सब भगवान् हैं, यह तो समझानेके लिये है। जबतक भगवान् नहीं दीख रहे हैं, तबतक भेदज्ञान—यह ऊँचा, यह नीचा, यह परेकी लीला, यह इधरकी लीला आदि विचार हैं।

आपने जो प्रश्न किया कि 'वे ग्वाले, जिन्हें ब्रह्माजीने छिपा दिया था तथा वे ग्वालबाल, जो स्वयं भगवान् ही बने थे—इन दो प्रकारके ग्वाल-सखाओंमें क्या भेद था ? तो वास्तवमें तो कोई भेद नहीं है; क्योंकि पहले भी स्वयं श्रीकृष्ण ही उतने ग्वाले बने हुए थे और फिर

ब्रह्माजीके ले जानेपर वे ही उतने और बन गये। इतना कहा जा सकता है कि पहलेवाले जो ग्वालसखा थे, उनमें कई साधनसिद्ध भी सखा थे, दूसरी बार ब्रह्माके ले जानेपर जो सखा प्रकट हुए, वे सब-के-सब स्वयं श्रीकृष्ण ही बने थे; सखाओंमें भी नित्यसखा एवं साधनसिद्ध सखा—ये दो भेद तो हैं ही। आज जिसने साधन किया और साधनसे भगवान्‌की नित्य-लीलामें सम्मिलित हुआ, वह साधनसिद्ध सखा माना जायगा। पर यह मानना भी हमारी-आपकी दृष्टिसे है; श्रीकृष्णकी दृष्टिसे तो स्वयं वे सदासे हैं और सदा रहेंगे।

यही उनकी विलक्षण, मन-बुद्धिसे अत्यन्त परेकी लीला है कि वे ही जीव, वे ही जगत्, वे ही जगत्‌के मालिक—तीनों बने हुए हैं; परंतु जबतक हम अपने-आपको अनुभव करते हैं तबतक यह ऊँच-नीचका भेद बना ही रहेगा। इसका रहस्य वाणी एवं मनसे समझा ही नहीं जा सकता।

शास्त्र एवं संत कहते हैं—जो है, भगवान् हैं; जो नहीं है, वह भगवान् है; तथा है, नहीं है—इन दोनोंसे परे भी भगवान्‌का रूप है, जो अनिर्वचनीय है। पर यह स्थिति भी तो वाणीमें आ गयी, इसलिये असली नहीं है। वह इतनी विलक्षण स्थिति है कि कुछ भी कहना नहीं बनता। यही बात दिव्यलीलाके रहस्यमें भी है। देखनेपर ही कोई यत्किञ्चित् समझ सकता है कि वह क्या वस्तु है।

सब भगवान् हैं, यही पहली स्थिति है—जो साधनासे प्राप्त होती है और तब फिर असली स्थिति प्राप्त हो जाती है, जो अनिर्वचनीय है।

बिलकुल कोई वस्तु भगवान्‌के सिवा है ही नहीं, यह ज्ञान जिसे है, और जिसे नहीं है, वे दोनों भी भगवान् ही बने हुए हैं। पर यह बात कही जाती है कि जबतक सुख-दुःख होता है, अहंकार है, तबतक साधना करो। परंतु यह अहंका, यह सुख-दुःख भी उन्हींका रूप है;

फिर साधना क्यों करें ? इसीलिये कि प्राणीकी इच्छा है कि मेरा दुःख मिट जाय।

१०८—मेरी राय तो यह है कि मनुष्य सृष्टितत्त्वका, भगवान्‌के लीला-तत्त्वका निर्णय करने, रहस्य समझनेके फेरमें न पड़कर सरल चित्तसे भगवान्‌का चिन्तन करे, साधनामें जुट जाय। बाह्य साधनाके अतिरिक्त मानसिक भगवत्सेवाकी साधनामें जुट जाय। नियम बाँध ले कि इतनी-इतनी सेवा तो करनी ही पड़ेगी। यदि यह नहीं हुआ तब तो फिर आज हमारा सबसे खराब दिन बीता। नहीं होनेपर कुछ प्रायश्चित्तका नियम ले ले, तब होगा।

व्रजप्रेमकी साधनाका जहाँ शास्त्रोंमें वर्णन है, वहाँ यह आता है कि साधकको स्वयं ठीक उसी प्रकारकी देहकी भावना करके चौबीसों घंटे वहीं साथ रहनेका ध्यान करना चाहिये। उसमें नियम बँध जाता है कि यह सेवा हमें करनी है। जैसे मान लें एक सेवा है—हाथ-पैर धुलाना। अब दिनभरमें न जाने कितनी बार इस सेवाका समय आयगा, उस समय तो मनको आना ही पड़ेगा। लगन होनेपर चाहे और सब काम बिगड़े, पर साधक उतनी देरके लिये चाहे बीस सेकण्ड ही क्यों न हो, सब काम छोड़कर जहाँ बैठा हुआ है, जो कर रहा है, सबको गौण करके ध्यानस्थ हो जायगा। अभ्यास होनेपर लोगोंको पता नहीं चलेगा। लिखते-पढ़ते, बातचीत करते हुए वह मन-ही-मन वहाँकी सेवा करते रह सकता है।

निरन्तर भगवत्सेवाकी मानसिक भावना करते रहनेसे मनकी क्या अवस्था होती है, यह कुछ इतनी विलक्षण बात है कि मेरा अनुमान है—आपने जो समझा होगा, उससे बिलकुल नयी बात है। उसकी कल्पना भी अभी नहीं हो सकती कि कैसे क्या-क्या होता है। वह तो

केवल वही जान सकता है, जो स्वयं इस ओर पैर बढ़ाये और श्रीकृष्णकी कृपाका आश्रय करके आगे पाँव रखता चला जाय; फिर सारी बात समझमें आती जायगी और बिलकुल ऐसी अवस्थाका ज्ञान होगा कि वह स्वयं केवल अनुभव कर सकेगा, दूसरोंको समझा नहीं सकेगा।

जैसे भी हो एक बार चेष्टा करके भगवान्‌की लीलामें मनको अच्छी तरह फँसा दें। जब मन टिकेगा, तब फिर स्वयं नयी-नयी चीजें, नये-नये दृश्य मनके सामने भगवान्‌की दयासे आने लग जायँगे। फिर यह आवश्यकता नहीं रहेगी कि किसीसे चलकर लीला सुनें। भगवान्‌की कृपासे स्वयं ऐसी विलक्षण-विलक्षण झाँकी—प्रेमसे भरी हुई झाँकी आयगी कि मन आनन्दमें डूबा रहेगा। केवल आप ही उसका आनन्द लेंगे, दूसरेको समझा भी नहीं सकेंगे। भगवान्‌की पूरी कृपा आपकी सहायता करेगी। जहाँ चेष्टा करने लगे कि नया-नया कुछ-न-कुछ दृश्य दिखा-दिखाकर वे मनको खींचने लगेंगे। आरम्भिक साधनामें किसी दिन तो बेगार-सा बड़ा बुरा मालूम होगा; क्योंकि मन भागना चाहेगा। पर यदि लगन रही तो फिर स्वयं मन लगने लग जायगा और फिर यह चेष्टा नहीं करनी पड़ेगी कि चलो, पन्ना उलटकर लीला पढ़ें; अपने-आप ठीक समयपर वह फिल्मकी तरह माथेमें नाचने लग जायगी। कोई बात करेगा, उसके साथ गौणरूपसे बात भी कर लीजियेगा; पर मन भाग-भागकर वहीं चला जायगा। बिलकुल ऐसा हो जायगा मानो अपने-आप लीलाकी फिल्म आती चली जा रही हो, एक-पर-एक आती रहेगी। पर प्रारम्भमें थोड़ी साधना करनी पड़ेगी। फिर आगे चलकर सच मानिये, भगवान्‌की कृपासे आपके लिये यह बहुत ही आसान हो जायगा।

———————

आस्तिकताकी आधारशिलाएँ

जगत्‌के भोगोंको बटोरना छोड़कर अपना मुँह भगवान्‌की ओर कर लें

सोना जितना तपाया जाता है, उतनी ही अधिक उसकी उज्ज्वलता बढ़ती चली जाती है, उसकी शोभा निखरती चली जाती है। वैसे ही हम विपत्तिकी आगमें जितना अधिक तपते चले जायँगे, उतना ही अधिक हमारे भीतर जो भगवान्‌का दिया हुआ तेज है, वह प्रकट होता जायगा, हमारी निर्मलताका सौन्दर्य सबकी आँखोंको आकर्षित करने लगेगा। किंतु हमें घबराहट होती है। विपत्ति आनेकी आशंकासे हमारी नींद उड़ जाती है। विपत्ति तो आयेगी पीछे और आयेगी कि नहीं तथा आयेगी भी तो किस रूपमें—भारी या हलकी बनकर आयेगी—ये सब तो पीछेकी बातें हैं। हम तो विपत्तिकी आशंकामात्रसे अधमरे-से हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है ? इसलिये कि जगत्‌में रचे-पचे रहकर, यहीं इसी जगत्‌के भोगोंमें ही निरन्तर सुख ढूँढ़ रहे हैं। पर यदि हम असली दृष्टिको अपना सकते—'हमें किधर जाना है', उसको याद कर सकते तो प्रत्येक विपत्ति—भारी-से-भारी विपत्ति—हमारे लिये स्वागतकी वस्तु बन जाती; विपत्तिकी आशंका हमारे मनमें उल्लासका, नवीन साहसका संचार कर देती।

किंतु अभी कुछ भी बिगड़ा नहीं है। सुबहका भूला हुआ यदि शामको भी घर पहुँच जाय, अथवा शामको भी घरकी ओर जानेवाली सड़कपर घरकी ओर मुँह करके दौड़ चले तो, बस, काम हो गया। वह तो घर पहुँच ही गया। और यदि सूर्य छिप गया है तो भी एक घड़ी रात जाते-न-जाते वह घर पहुँच ही जायगा; क्योंकि एक रक्षक उसके साथ छिपा हुआ निरन्तर चल रहा था, चल रहा है। जहाँ आवश्यकता होगी, वहीं वह उसे रोशनी दिखा देगा, अब आगे गड्ढेमें गिरनेसे बचा लेगा, जंगली जानवरोंको उसपर हमला नहीं

****

करने देगा, दौड़नेके कारण जब उसे प्यास लगेगी तो बड़ा ही सुखद ठंढा पानी पिला देगा और थकान बढ़ जानेपर जरा-सा उसे छू देगा तथा इतनेमें ही उसकी सारी थकावट दूर होकर उसमें नवीन स्फूर्ति, नया बल आ जायगा।

ठीक ऐसे ही, अभी हमारे पास थोड़ा समय बच गया है। हम जगत्‌के भोगोंको बटोरना छोड़कर अपना मुँह भगवान्‌की ओर कर लें, जो साधना संत-शास्त्र बताते हैं, उस पथपर चल पड़ें; तेजीसे दौड़ पड़ें तो सूर्य छिप भी गया तो अँधेरा होते-न-होते भगवान् हमें मिल जायँगे—जरूरत होते ही आवश्यकताभर प्रकाश हमें मिल जायगा; किसी भी पापके गर्तमें गिरनेसे बचा लिये जायँगे। हमें हानि पहुँचानेवाले हमारे पास फटकतक नहीं सकेंगे। कोई-सा दुःख—साधनके सम्बन्धको लेकर—होते ही हमें एक अद्भुत शान्तिका अनुभव करा दिया जायगा। और जब साधन-पथपर आगे बढ़नेमें असमर्थताका अनुभव करने लगेंगे तो उसी क्षण—एक प्रेमिल स्पर्शकी अनुभूति करा दी जायगी और हममें नया ओज, नयी ताकत आ जायगी।

दोषदर्शनकी वृत्तिको पूर्ण शक्ति लगाकर दबानेकी चेष्टा करें

जिस समय हम दूसरेका दोष देखने चलते हैं, उस समय हमें यह सोच लेना चाहिये कि हम अपने-आपको उसकी अपेक्षा बहुत अधिक ऊँचा और उस दोषसे शून्य अनुभव कर रहे हैं। यह ऐसी भ्रान्ति है, जो ऊँचे-से-ऊँचे साधकोंतकका पिण्ड नहीं छोड़ती। असली महा-सिद्धमें इस दोष-दर्शनकी वृत्तिका अत्यन्त अभाव होता है। और वह वृत्ति है इतनी गंदी कि साधकको परमार्थके साधनपथसे घसीटकर पीछेकी ओर नरकके गर्तमें प्रायः डाल ही देती है।

यह भी एक बड़े विचारनेकी बात है कि हम जिस दोषका दर्शन दूसरेमें कर रहे हैं, वह दोष यदि हममें नहीं होता, तो हमें वह दोष दूसरेमें

दीखता ही नहीं, यह ऐसा सत्य है कि जिसका खण्डन हो ही नहीं सकता। यद्यपि बुद्धिवाद तो परमार्थ-सत्यको छू ही नहीं सकता, किंतु बुद्धिवादके तर्कोंको भी आगे चलकर इस प्रश्नपर स्वीकार कर ही लेना पड़ेगा कि हम जिस कूड़ेका अनुभव अन्यत्र कर रहे हैं, वह कूड़ा वस्तुतः हमारे ही अंदर है और उसीका प्रतिबिम्ब हम दूसरेपर डाल रहे हैं।

सामने एक व्यक्ति हमें दम्भी-पाखण्डीके रूपमें दीख रहा है। वहाँ सत्य तो यह है कि भगवान् विराजित हैं; किंतु उसके स्थानपर हमें अपने अंदर संचित कूड़ेका दर्शन हो रहा है। इतना ही नहीं, इस प्रकारके दर्शनकी प्रत्येक चेष्टा हमारे अंदर संचित कूड़ेके ढेरको निकालकर हमारे चारों ओर इकट्ठा कर देती है और इतनी दुर्गन्ध फैला देती है कि हम उस ओरसे आनेवाले भगवान्के सौरभको ग्रहण कर ही नहीं सकते। अपनी ही दुर्गन्धि हमें सत्यकी अनुभूतिसे दूर ले जाकर तरह-तरहका पाठ पढ़ा देती है और हम यह फतवा दे बैठते हैं कि 'अमुक तो ऐसा गंदा है, अमुक ऐसी गंदी है।' जिन्हें सत्यका अनुभव होता है, वे इस प्रकारका निर्णय कभी दे ही नहीं सकते; क्योंकि उनकी आँखमें बुरी-भली नामकी कोई भी वस्तु न रहकर एक भगवान्की सत्ता ही बच रहती है।

सच्चे संतके प्रति अपनी आसक्तिकी धाराको मोड़ दें

असली संतकी कोई बाहरी पहचान नहीं होती, किंतु जो सच्ची अभिलाषा लेकर भगवान्की ओर बढ़ना चाहता है, उसे भगवान् असली संतके पास पहुँचा ही देते हैं। स्वयं भगवान् ही संत बनकर उसके जीवनकी नाव पार लगाने आ जाते हैं। धोखा मनुष्यको वहीं होता है और इस कारणसे ही होता है, जहाँ अपना अहंकार लेकर मनुष्य चलता है और उनसे अपने मनकी इच्छाओंकी पूर्ति कराना चाहता है। इसका सीधा अर्थ यह है कि उसमें भगवान्की प्राप्तिकी सच्ची अभिलाषा नहीं है; क्योंकि भगवान्को प्राप्त करनेकी अनन्य तथा

सच्ची लालसाका उदय होते ही तत्क्षण—तत्क्षण अन्य कोई भी कामना, जागतिक पदार्थकी उपलब्धिकी रञ्चकमात्र भी इच्छा रह ही नहीं जायगी और न अपनी विद्या-बुद्धिपर तथा अपने अंदर अच्छेपनका गर्व ही रहेगा। जहाँ ये दोनों चीजें हैं, वहाँ भगवान् तमाशा देखते हैं। अन्यथा, प्रथम तो उसे ले ही नहीं जायँगे, जहाँ वह मायाके प्रवाहमें फिर पड़ सकता है। और तो क्या, इसके लिये नवीन प्रारब्धका निर्माणतक हो जाता है। इसे भगवत्कृपाजनित प्रारब्ध कहते हैं और यह भगवत्कृपाजनित प्रारब्ध बीचमें ही, कर्मजनित प्रारब्धको स्थगित करके, फलोन्मुख होकर असली संतके सम्पर्कमें ला ही देता है, जहाँ उनसे कभी धोखा होगा ही नहीं; और यदि कोई बुरे प्रारब्धवश ऐसे संयोगमें आ गया है तो उसकी अवश्य-अवश्य रक्षा कर ही लेंगे वे; किंतु करेंगे उसीकी, जिसमें एकनिष्ठ भगवत्प्राप्तिकी लालसा है और जो सच्ची-सच्ची दीनता लेकर चला है, चल रहा है।

ऐसा भी देखा जाता है कि असली संतके सम्पर्कमें आनेपर भी उनके निमित्तसे तो नहीं, अन्यके निमित्तसे पतन हो जाता है। ऐसा क्यों होता है ? इसके तीन-चार कारण हैं। पहला यह है कि उस मनुष्यकी भगवत्प्राप्तिकी लालसा वैसी ही है, जैसे हम प्रदर्शनीमें गये और वहाँ चीजें खरीदने लगे—एक बढ़िया साड़ी खरीदी, दूसरी हाथी-दाँतकी एक चीज खरीदी, तीसरी अमुक, चौथी अमुक चीज—इस प्रकार सत्तानबे चीजें तो खरीदीं भोग-विलासकी और अट्ठानबे, निन्यानबे और सौवीं वस्तु खरीदीं—एक तुलसीकी माला, एक भजनकी पोथी और एक भगवान्‌का कोई चित्र, सो भी मनमें यह सोचकर कि हम अमुक संतके पास रहने लगे हैं, यदि ये तीन चीजें नहीं रखेंगे तो नक्कू बनेंगे; क्या कहेंगे वे लोग, जो उन संतके पास रहते हैं ? और जीवनमें अपना उद्धार कर लेना भी तो आवश्यक चीज है ही, इस दृष्टिसे भी एक सौमें

****

तीन ऐसी चीज तो अपने पास जरूरी है ही। ठीक उसी प्रकार संतके, असली संतके पास रहकर भी हमारे मनमें भगवत्प्राप्तिकी लालसा इसी औसतकी प्रायः रहती है। दूसरा कारण है, मनमानी करनेकी प्रवृत्ति, संतकी आज्ञाओंका पूरा-पूरा निरादर करना और तीसरा कारण है, उनसे भी कपट करने लग जाना, उन्हें भी ठगनेकी-सी वृत्तिको अपना लेना। यदि ये तीनों कारण हमारे अंदर, हमारे लिये बिलकुल ही लागू नहीं पड़ते तो किसी भी असली संतके सम्पर्कमें जानेके अनन्तर, अन्य किसीके निमित्तसे हमारा पतन नहीं होगा, नहीं होगा।

इसपर प्रश्न हो सकता है तो फिर क्या किया जाय ? तो इसका उत्तर है कि संतका ही संग करें, बस, सच्चे अर्थमें संतका ही अवश्य-अवश्य संग करें। संगका अर्थ होता है—आसक्ति। हम किसी सच्चे संतके प्रति आसक्ति कर लें। असली संत किसे माना जाय ? संसारमें जिस व्यक्तिमें हमें दैवी सम्पदाके अधिक-से-अधिक गुण अभिव्यक्त दीखें, विकसित दीखें तथा जिनके संगसे हमारे अंदर दैवी सम्पदाके गुण विशेषरूपसे बढ़ने लगें—उन्हींको हम असली संत मान लें और उनकी शरणमें जाकर उनके प्रति ही अपनी आसक्तिकी धाराको मोड़ दें। किंतु मोड़ सकेंगे तभी—जब हम अपने जीवनको इस साँचेमें ढालनेके लिये प्रस्तुत होंगे—

१-अपनी जानमें भगवत्प्राप्तिकी लालसाके अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओंको सर्वथा विसर्जित करनेकी पूरी-पूरी चेष्टा करें।

२-इस प्रयासमें असफल होनेपर उनसे—चाहे, वह कामना कैसी भी हो—उनसे ही, लाज-संकोच छोड़कर बता दें। किंतु उन्हें बाध्य करनेकी भूल न करें। उनपर ही छोड़ दें; वे पूरी करें तो ठीक, नहीं तो ठीक। पर फिर उसके लिये दूसरेके आगे हाथ न पसारें।

३-उनकी प्रत्येक आज्ञाके पीछे, प्रत्येकके पालनमें पूरी-पूरी

तत्परतासे काम लें। किंतु यह ध्यान रखना चाहिये कि असली संत कभी भी असद्-रूपात्मक आज्ञा देते ही नहीं। कभी हमें यह दीखे कि यह आज्ञा तो असत्-प्रेरणात्मक है तो उसका पालन कदापि न करें। वे उसके न पालनसे ही वस्तुतः प्रसन्न होंगे—यदि वे असली संत हैं तो।

४-मनमानी चेष्टा—साधनात्मक या व्यावहारिक—बिलकुल न करें; जो भी करें, उनसे पूछकर करें।

५-उनसे कभी भी—स्वप्नमें भी, जाग्रत्की तो बात ही क्या है—कोई-सा, तनिक भी कपट न करें, न करें।

एक बात और याद रखनी चाहिये—असली संत पागल कुत्तेकी तरह होते हैं। पागल कुत्तेके काटनेपर उसके विषका असर तुरंत नहीं होता—उसके लिये कुछ समय अपेक्षित होता है। वैसे ही यदि तनिक-सी भी श्रद्धा लेकर, कभी भी, एक बार भी हम उनके दृष्टि-पथमें आ गये हैं तो उन्होंने भी अपनी अहैतुकी कृपासे परिपूर्ण आँखरूपी दाँतोंको हमारे तनमें, इन्द्रियोंमें, मनमें, बुद्धिमें, अहंतामें गड़ा ही दिया है। पागल कुत्तेका काटा हुआ व्यक्ति कालान्तरमें कुत्तेकी भाँति 'हू-हू' करने लगता है—यहाँ तो इसका इलाज भी सम्भव होता है। किंतु असली संतकी आँखोंसे निकलकर कृपाभरे दाँत जिसको छू गये हैं—वह देर-सबेर—संत बनकर ही रहेगा।

संतकी सात्त्विक आज्ञाओंके पीछे प्राणतक विसर्जन करनेके लिये प्रस्तुत रहें

जिसपर भगवान्‌की कृपाका प्रकाश हो जाता है, उसीको विशुद्ध सच्चे संतके दर्शन होते हैं, उसीको वे मिलते हैं। किंतु कभी-कभी ऐसा भी हो ही जाता है, नहीं-नहीं, प्रायः ऐसा ही हो जाता है कि जैसे किसी साग बेचनेवालीको हठात् कोई अनमोल हीरा मिल जाय, वैसे ही कोई हठात्—बिना किसी प्रयासके, किसी परम विशुद्ध सच्चे संतके सम्पर्कमें आ जाय।

हम शायद सोच सकते हों कि 'मुझे तो परम विशुद्ध सच्चे संत अवश्य मिल गये हैं और मैं—मैं तो साग बेचनेवालीकी श्रेणीमें कदापि नहीं हूँ' जो अनमोल, कभी नहीं देखे हीरेकी कीमत नहीं जानती; मैं तो संत-महिमाको जानता हूँ, उसका उपभोग करता हूँ, संतका आदर करता हूँ; मेरा जीवन तो उसके लिये ही, उनपर ही न्योछावर हो चुका है।' बस यहीं—यदि हमारे मनमें, स्वप्नमें भी ऐसी विचारधारा चल पड़ती है तो यह हमारा नितान्त भ्रम है। इस भ्रमको हम जितना शीघ्र सर्वथा परित्याग कर देंगे—उतनी ही शीघ्रतासे हमारे श्रेयका मार्ग प्रशस्त होकर भगवान्‌के सच्चे प्रकाशका हमें अवश्य-अवश्य शीघ्र-से-शीघ्र साक्षात्कार होकर ही रहेगा।

सच तो यह है कि जिसे सचमुच परम विशुद्ध संत मिल जाते हैं, जो तनिक भी उनकी महिमाका ज्ञान रखता है, उनकी महिमाका तनिक भी उपयोग अपने जीवनमें करता है—चाहे लचड़-पचड़ विश्वासके साथ ही तनिक भी, किंतु सच्चे अर्थमें उनपर न्योछावर हो जानेकी लालसा जिसमें जाग उठी है—उसे संत भगवान्‌से भी अधिक प्रिय लगने लगते हैं। यदि ऐसा नहीं हुआ है, उसके जीवनमें तो या तो उसे असली परम विशुद्ध संत मिले ही नहीं हैं या वह है उसी श्रेणीमें—बस, उस साग बेचनेवालीकी श्रेणीमें ही, जिसने प्रकाश देनेवाला एक पत्थरका टुकड़ा समझकर हीरेको लेकर—उस अनमोल हीरेको अपने घर लाकर ताखेमें रख दिया है। उसने भी संतको एक बड़ा ही सज्जन व्यक्ति समझकर अपने मनरूपी घरके किसी कोनेमें स्थान दे रखा है—संत-मिलनका अर्थ उसके जीवनमें इतना ही है।

परम विशुद्ध संतकी महिमा अपार है; हम अपनी कुतर्ककी बुद्धि लेकर उसे समझ ही नहीं सकते। उसके लिये आवश्यकता होती है—एक बार विश्वासका पथ अपनाकर चलनेकी, उनके पीछे-पीछे कदम

बढ़ानेकी। पीछे-पीछेका अर्थ है—उनकी रुचिकी दिशामें, उनकी रुचिको देखकर, उसे ही अपनाकर चलना। यहाँ तो हमारी दशा है उस राहगीरसे भी गयी-बीती, जो जिस-किसीसे भी राह पूछ लेता है और विश्वास करके, निश्चिन्त होकर उस राहपर बढ़ता ही चला जाता है। उसके मनमें यह संशय नहीं जागता कि राह बतानेवाला मुझे धोखा दे रहा है। वह राहगीर ठीक-ठीक—रास्तेका मोड़ आनेपर पूछ ही लेगा किसीसे और सीधे जाना है कि बायें कि दाहिने मुड़ना है—यह पता लेकर बतानेवालेकी आज्ञाका अनुसरण करता है। हम तो पद-पदपर अपनी मनमानी करते हैं। संतके बार-बार मना करनेपर भी पापके गर्तमें गिरनेकी दिशामें ही पैर बढ़ाते हैं और कहीं गिर भी चुके हैं, तो भी संतके अतिशय प्यारसे मना करनेपर भी, उनकी छोटी-से-छोटी, सुगम-से-सुगम आज्ञाका निरादर करके मुँह किये रहते हैं पतनके गड्डेकी ओर ही। तनिक भी पश्चात्ताप नहीं अपनी भूलपर, और तुर्रा यह कि संतमें ही दोष दीखता है हमें। परम विशुद्ध संतसे मिलनेका प्रायः इतना ही अर्थ है जन-साधारणके जीवनमें आज।

किंतु इससे परम विशुद्ध संत बिलकुल ही नाराज नहीं होते। उनकी कृपाका प्रवाह वैसे ही चलता ही रहता है पीछे-पीछे और एक क्षण जीवनमें ऐसा आयेगा ही—हो सकता है, वह क्षण आये ठीक मृत्युके बिन्दुपर ही—जिस क्षण हमारे जीवनकी धारा मुड़ेगी ही प्रभुकी ओर—संत-मिलन, विशुद्ध संत-मिलनकी अमोघता, उनकी कृपाके प्रवाहकी अव्यर्थता व्यक्त होकर ही रहेगी—'**मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥**'—यह सत्य होकर ही रहेगा। भले ही जगत् इसे, इस अद्भुत चमत्कारको, परमार्थिक सत्यको न जान पाये, बुद्धिवादीके लिये यह हास्यास्पद ही बना रहे, किंतु सत्य तो सत्य ही रहता है। सत्य किसीकी मान्यताकी अपेक्षा नहीं रखता।

अतएव हम जिसे संत मान चुके हैं, उनकी सात्त्विक आज्ञाओंके पीछे अपने प्राणतक भी विसर्जित करना पड़े, इसके लिये भी सच्चा साहस बटोरकर अपने जीवनकी गाड़ीको आगे बढ़ाते चले जायँ। हमें भगवान्‌का प्रकाश मिलेगा ही।

भगवान्‌की रुचि हमें जैसी प्रतीत हो, उसका हम आन्तरिक उल्लाससे स्वागत करें

संतोंकी बाहरी चेष्टाको, चेष्टाके सच्चे अर्थको समझ लेना आसान काम नहीं है। मन शुद्ध हुए बिना अटकल-पच्चूपनेका निर्णय प्रायः गलत ही होता है और कहीं हम उसकी नकल करने चलें—तो सब समय नकल करना प्रथम तो सम्भव ही नहीं है और यदि आगे-पीछे सोचे बिना कभी साहस बटोरकर कर बैठें—तब आगे चलकर, अथवा तुरंत ही प्रायः पछताना पड़ता है। इसलिये सावधान रहना चाहिये।

एक संत थे। नदी पार कर रहे थे नावसे। नदीका प्रवाह बहुत चौड़ा था। जब नाव ठीक बीचमें आयी तो मल्लाह चिल्ला उठा—'राम ही बचावें, बहुत जोरका तूफान आ रहा है!' धारा बड़ी तेज थी, अपनी पूरी शक्ति लगाकर मल्लाह डाँड़ खे रहा था। थोड़ी ही देरमें तूफान आ गया, अभी सैकड़ों गज दूर थी नाव किनारेसे। संतके अतिरिक्त पंद्रह-बीस यात्री और थे उस नावपर। तूफानका वेग बढ़ता ही गया; मल्लाहकी शक्ति समाप्त-सी होने लगी डाँड़ खेते-खेते। पुकार उठा मल्लाह—'नाव डूबती दीखती है, भगवान्‌को याद कीजिये आपलोग; अब वे ही बचा सकते हैं।' डरके मारे सभी पुकारने लगे भगवान्‌को, किंतु वे संत तो बड़े ही विचित्र निकले। उन्होंने क्या किया कि अपना कमण्डल उठाया और नदीमेंसे जल भर-भरकर नावमें डालने लगे—एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, बस, डालते ही जा रहे थे। सबको अपनी जानकी पड़ी थी। 'त्राहि, नाथ!' सभी पुकार रहे

थे। संतकी ओर देखकर भी यात्री उन्हें इस चेष्टासे रोकनेसे रहे। मल्लाहसे नहीं रहा गया। संतोंका भक्त होनेपर भी वह बोल ही उठा—'महाराज ! नावमें पानी डाल-डालकर और जल्दी इसे क्यों डुबाना चाह रहे हो ?' पर कौन सुने, संतने तो और भी शीघ्रतासे पानी डालना जारी रखा। दो-तीन मिनट बीतते-न-बीतते मल्लाह चिल्ला उठा—'महाराजजी ! अब भगवान्‌की कृपा तो ऐसी दीखने लगी कि नाव किनारे लग सकती है, किंतु आप तो इसमें पानी भरकर डुबानेपर ही तुले हुए हो।' 'है ऐसी बात है'—कहकर संतने अब नावके भीतर जो पानी ये डाल चुके थे, उसे बाहर कमण्डलुमें भर-भरकर फेंकने लगे। पानीसे वे लथपथ हो रहे थे, पर भीतरका पानी अब बाहर फेंकते ही जा रहे थे। लोगोंने समझा—'संत पागल है।'

आखिर नाव किनारे लग ही गयी। यात्री भी उतरे। मल्लाह श्रद्धालु था। किसी भी संत-महात्मासे उसने उतराई ली ही नहीं थी। गरीबोंको वह यों ही पार कर देता था। याचनातक उसने नहीं की थी किसीसे भी उतराईकी उसने अपने जीवन भर। लोग जो देते थे, उसीसे उसका जीवन चलता था। अस्तु ! उसके मनमें आया संत पागल होंगे, किंतु नाव तो पार लगी है इनकी उपस्थितिके कारण। उसने डाँड़ फेंककर संतके चरण पकड़ लिये और पूछ बैठा—'महाराज ! आपने ऐसा क्यों किया ? पहले तो पानी भीतर डाल रहे थे, फिर बाहर डालने लगे।' संत हँसे और बोले—''देखो, मेरी नकल तो मत करना और मैं जो कह रहा हूँ, उसे समझनेकी चेष्टा करना। तुमने कहा—'नाव डूबने जा रही है।' तुम्हारी बात सुनकर मेरे मनमें आया कि 'प्रभुकी इच्छा है कि नाव डूब जाय, फिर मेरे लिये क्या कर्तव्य है ? नाव डूबे या बचे, इससे मेरे लिये कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, किंतु मेरा तो कर्तव्य यही है कि उनके—प्रभुके परम मङ्गलमय विधानमें मेरे द्वारा

सहयोगका दान हो जाय। बस, मैंने कमण्डलु उठाया और पानी डालने लगा—दूसरे शब्दोंमें मेरा प्रयास नावको डुबानेकी दिशामें रहा, या हुआ, या दीखा। और फिर जैसे ही तुमने यह बात कही कि 'नावके बचनेकी आशा है' बस, उसी क्षण मेरा प्रयास नावको बचानेकी दिशामें चल पड़ा—यह जानकर कि 'प्रभु नावको बचाना चाह रहे हैं।' बस, प्रभुकी मङ्गलमयी इच्छामें अपनी इच्छा मिला दिया करो। इसका यह अर्थ तुम मत मान लेना कि कोई मरता हुआ दीखे तो किसी वैद्यके घरसे लाकर उसे जहर खिला दो। इसका अर्थ इतना ही है कि 'भगवान्‌की रुचि तुम्हें जैसी प्रतीत हो, उसका तुम आन्तरिक उल्लाससे स्वागत करो।' तुम जिस दिन सच्चे संत बन जाओगे, उस दिन तो तुम्हारे अंदर कोई संकल्प ही नहीं रहेगा, कोई कामना ही नहीं रहेगी; तुम्हारे द्वारा स्वाभाविक परम मङ्गलमयी चेष्टा ही निरन्तर होती रहेगी। उससे पहले तुम्हें चाहिये कि जो भी फलरूपमें तुम्हें प्राप्त हो, उसका आन्तरिक उल्लाससे स्वागत करो। प्राणोंका उल्लास लेकर मन-ही-मन पुकार उठो—'प्रभो! तुम्हारी मङ्गलमयी इच्छा पूर्ण हो।' सारांश यह है कि तुम छोटी बातोंके लिये तो कहना ही क्या है, अपनी, अपने साथियोंकी मृत्युकी सम्भावना दीखनेपर भी व्यावहारिक जगत्‌में उससे बचने-बचानेके लिये सात्त्विक उपायोंका आश्रय तो ले लो, पर भयभीत मत होओ; अपितु परम उल्लासके साथ मृत्युका स्वागत करना सीखो—'मृत्युके रूपमें भगवान् ही आ रहे हैं, तुम्हारा मङ्गल करनेके लिये'—इसे इतने उल्लाससे अपने जीवनमें मूर्त कर लो मानो मृत्युको तुम निमन्त्रित कर रहे हो, मेरी तरह डूबती हुई नावमें पानी डालनेकी भाँति।''

इतना कहकर संत चले गये। इस कथासे हमें यह भी सीखना चाहिये कि हम जिन्हें संत मानते हों, उनकी चेष्टामें गुण-दोष न देखकर, भूलकर भी उनकी नकल न करके उनकी सात्त्विक आज्ञाओंके

पालनमें जुटे रहें, तभी संतका असली संग हमारे द्वारा होगा।

भगवान्‌की यश-कथाके श्रवणका अद्भुत प्रभाव हमारे जीवनमें क्यों नहीं व्यक्त होता—विश्लेषण और निदान

असली संतकी कोई-सी बात किसी दिन किसी क्षण मनमें उतर जाती है, उसपर पर्वतकी तरह अचल विश्वास हो जाता है और जीवनके उस साँचेमें ढलते देर नहीं लगती। और यह हुआ कि भगवान् तो उसका स्वागत करनेके लिये पहलेसे ही तैयार खड़े रहते हैं, वह व्यक्ति देखते-देखते निहाल हो जाता है, कृतार्थ हो जाता है।

पढ़ना-लिखना बुरा नहीं है, पढ़-लिखकर विवेकका उपयोग करना ही चाहिये, सत्साहित्यका अनुशीलन करके जीवनको आगे बढ़ानेमें, भगवान्‌की ओर मोड़नेमें जागरूक होना ही चाहिये, किंतु जो पढ़ाई-लिखाई, जो विवेक, जो साहित्य हमारी सरलताका हनन करके पद-पदपर हमें संशयालु बना देता है, संत-जगत्‌के प्रति अनास्था उत्पन्न करा देता है—सम्पूर्ण संत-जगत्‌को हमें ढोंगियोंसे ही भरा दिखलाने लग जाता है—वैसी पढ़ाई-लिखाई, वैसा विवेक, वैसा सत्साहित्य तो जनसाधारणका कल्याण करनेसे रहा। मस्तिष्क-प्रधान और हृदय-प्रधान—बस, ये ही दो वर्ग जनसाधारणके बनते हैं। इन्हींको परमार्थमें हम बुद्धिमार्गका साधक और विश्वासमार्गका साधक कहकर पुकारते हैं।

बहुधा प्रश्न होते हैं—'असली संतके मुँहसे निकली हुई भगवत्कथाको सुननेपर उसका क्या प्रभाव पड़ता है? उसका कैसा अद्भुत प्रभाव पड़ना चाहिये? और जैसा प्रभाव पड़ना चाहिये, वैसा श्रोताओंपर क्यों नहीं पड़ता? और यदि पड़ता भी है तो वह स्थायी क्यों नहीं होता?' इन प्रश्नोंका सीधा उत्तर यह है कि भगवान्‌की कथा सुननेका प्रभाव तो व्यक्त होकर ही रहेगा, संतके मुँहसे निकली हुई भगवद्-यश-कथा अपना जादू दिखलाकर ही रहेगी। भगवत्कथा

****

सुननेका प्रभाव, एक बार ही सुननेका प्रभाव यह होता है कि फिर संसार इस रूपमें नहीं रह जायगा। 'घर-द्वार सब छूट जायगा, हमारे सम्बन्धीजन रोते-बिलखते रह जायँगे और फिर हम उन्हें नहीं मिलेंगे, हम कपड़ा रँगकर साधु-संन्यासी ही बन जायँगे।' यह मतलब नहीं है; किंतु यह अवश्य है कि यह संसार मनसे तो सचमुच-सचमुच निकल ही जायगा। फिर हमपर असर ही नहीं पड़ेगा इस संसारके किसी चढ़ाव-उतरावका। अभी तो हमारी यह दशा है कि क्षुद्र-से कारण भी क्षण-क्षणमें हमारे मनका नक्शा पलटते रहते हैं और फिर भी हम कहते हैं कि हमें रामायणकी कथा, भागवतकी कथासे बढ़कर अधिक प्रिय कोई वस्तु है ही नहीं। यह 'आत्मवञ्चना' है। यदि हम आत्मशोधन करें तो स्वयं पता लग जायगा कि इसे 'आत्मवञ्चना' कहना सोलह आना ठीक है कि नहीं।

भगवत्कथाके इस माहात्म्यको ध्यानमें रखकर इसपर ध्यान देते हुए यदि हम कहीं कथा सुनने जायँगे तो एक-दो बार ही जानेकी जरूरत होगी। फिर तो जीवन भगवान्‌की ओर ऐसा मुड़ेगा कि हम स्वयं ही दंग रह जायँगे। अतिशयोक्ति नहीं है, कोई करके देखना चाहे तो साहस बटोरकर देख ले सकते हैं। किंतु सोडावाटरके जोशकी तरह साहस न बटोरें, लहराते हुए समुद्रकी तरह साहस लेकर आगे कदम बढ़ायें। समुद्र वहीं रहता है, लहरा उठता है बड़े वेगसे; किनारा ऊँचा रहनेपर टकराता है, उससे बार-बार घंटोंतक और फिर मानो थककर पीछेकी ओर हट जाता है। किंतु कुछ ही घंटोंके लिये पीछे हटता है। 'वह तो आयेगा ही, उसी दिन ही एक सुनिश्चित अवधिके अन्तरमें अवश्य आयेगा—किनारेको मानो डुबा देनेके लिये।' ऐसा साहस लेकर जायँ—पीछे पछतानेकी मनोवृत्तिको सर्वथा सदाके लिये जलाञ्जलि देकर, ठंढे पड़ जानेकी आदतको आगमें जलाकर।

× × × ×